विषय-सूची

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !

आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ पतित-पावनी, अहैतुकी कृपा से दु खी प्राणियों के हृदय मे त्याग का वल एवम् सुखी प्राणियो के हृदय मे सेवा का वल प्रदान करं, जिससे वे सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जायँ ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

परिचय

मानव-दर्शन क्या है ? मानव की अपनी बात। मानव की अपनी बात क्या है ? वह कुछ जानता है, कुछ मानता है और कुछ करता है। उसकी जानकारी, मान्यता एव उसके कर्मो मे जब तक सामञ्जस्य नही आता तब तक उसका जीवन सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से भरा रहता है। परन्तु जब सामञ्जस्य हो जाता है तब विकास की ओर प्रगति होती है। मानव विकास का अभिलाषी है। अतः उसको अपनी जानकारी, मान्यता एवं अपने कर्मो में सामञ्जस्य रखना अनिवार्य है। यह मानव-दर्शन है।

प्रस्तुत पुस्तक में जानकारी, मान्यता और कर्मो का असामञ्जस्य दो रूपो में दिखाया गया है :—

(क) जैसा जाने एवं माने उसके विपरीत चलना अर्थात् जाने हुए का अनादर, माने हुए में विकल्प एव मिले हुए का दुरुपयोग करना।

(ख) जिसे जान सकते है उसमें मान्यता लगाना, जिसे किसी भी प्रकार जाना नही जा सकता जिसमें केवल आस्था की जा सकती है उसमे तर्क लगाना, जो करने का है उसका चिन्तन करना और जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष नही है, उसके लिए श्रमित होना।

इस प्रकार असामञ्जस्य जीवन में अपनी ही भूल से आता है। इसे व्यक्ति अपने ही द्वारा मिटा सकता है। यह मानव का पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ के लिए सामर्थ्य उसे प्राप्त है। यदि ऐसा न होता तो मानव-जीवन में पुरुषार्थ का प्रश्न ही न होता। अतः अपने जीवन मे

सामञ्जस्य बनाये रखने मे प्रत्येक व्यक्ति समर्थ है, यह मानव-दर्शन है।

मानव क्या जानता है ?

सबसे पहले उसे अपना भास होता है, 'मैं' हूँ। फिर इन्द्रिय-दृष्टि से उसे जगत् की प्रतीति होती है। अपने मे इच्छाएँ उठती है। जगत् मे इच्छापूर्ति की सामग्री उसे दीखती है। इच्छापूर्ति के सुख के प्रलोभन से वह जगत् की ओर प्रवृत्त होता है। भोग-प्रवृत्ति मे भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तु का विनाश होता है। शक्ति का ह्रास होने से असमर्थता, भोग्य वस्तु का विनाश होने से विवशता, एव भोग की रुचि अतृप्त रह जाने से अभाव की पीड़ा से व्यक्ति पीड़ित होता है। यह उसका अपना अनुभव है। पीड़ित होकर जीना उसे सह्य नही है क्योकि वह सुख-पूर्वक जीना चाहता है। अपनी चाह और अपनी दशा को वह अच्छी तरह जानता है।

मानव और क्या जानता है ?

निज अनुभव के आधार पर मानव यह भी जानता है कि सकल्प-पूर्ति जीवन नही है क्योकि सभी सकल्प किसी के भी पूरे नही होते, सकल्प-पूर्ति का सुख-भोग नये सकल्पो को जन्म देता है। सकल्प के आरम्भ मे तनाव (tension), अन्त में असमर्थता एव सकल्पपूर्ति के सुख की तृष्णा के रूप मे अभाव ही शेष रहता है। मध्य का सुखाभास मानव को जड़ता एव पराधीनता मे बाँधता है। सकल्प उत्पत्ति, पूर्ति, अपूर्ति के क्रम के अन्त मे अभाव ही अभाव शेष रहता है। अभावजन्य खिन्नता और नीरसता मानव के लिए असह्य है क्योकि उसमे सरस जीवन की माँग है।

बुद्धि-दृष्टि से वह यह भी देखता है कि वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि मे स्थायित्त्व नही है अपितु इनमे सतत् परिवर्तन है। परिस्थितियो पर उसका नियन्त्रण नही है। फिर भी परिस्थितियो मे जीवन-बुद्धि स्वीकार कर व्यक्ति पराधीनता का अनुभव करता है। पराधीनता उससे सही नही जाती क्योकि उसमे स्वाधीनता की माँग है।

निज विवेक के प्रकाश में मानव यह भी अनुभव करता है कि वह देह नही है, देह उसकी नहीं है। वस्तु, अवस्था, परिस्थिति, सामर्थ्य आदि जो कुछ उसके पास है वह सब उसे मिली हुई है, अपना व्यक्तिगत कुछ भी नही है क्योकि उन पर अपना कोई स्वतन्त्र स्वत्त्व नही है तथा उनसे अपना नित्य-सम्बन्ध भी नही है।

इतना जानते हुए भी यदि जीवन में अपनी जानकारी का प्रभाव नही है तो अवनति है और यदि प्रभाव है तो स्वाभाविक विकास है। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से जो व्यक्ति सुख-दु.ख का भोगी वनता है, बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से वही जिज्ञासु बनता है। मै क्या हूँ ? जगत् क्या है ? इनकी खोज आरम्भ हो जाती है। जिज्ञासु मे असत् के सग के त्याग की सामर्थ्य आती है। असत् के सग का त्याग मानव के पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है। इतना कर चुकने पर सर्वतोमुखी विकास स्वत' होता है। यह मानव-दर्शन है।

मानव क्या मानता है ? प्रतीति और स्वीकृति मे सद्भाव रखता है। यह मान्यता भूलजनित है, इसमे निस्सन्देहता नहीं है। देह मे अहम् बुद्धि होने से मानव प्राप्त वस्तु, सामथ्य आदि मे ममता कर लेता है जिसके करने से अहम् और मम मे सत्यता भासती है जो सभी विकारो की जननी है। अहम् के कारण विभिन्न स्वीकृतियो में जीवन-बुद्धि तथा मम के कारण अनेक विकारो की उत्पत्ति होती है जो विनाश का मूल है।

यद्यपि उसकी मान्यता मे नि सन्देहता नही होता क्योकि वह देखता है कि देह बदलती जा रही है, पर स्वयं का भास ज्यो का त्यो है, देह को अपना मान कर उसको सुरक्षित रखन का लाख उपाय करने पर भी जरा और मृत्यु आती ही है, यह उसकी मान्यता का उसके निज अनुभव के साथ असामञ्जस्य है; परन्तु इन्द्रिय-जन्य सुख-लोलुपता के कारण देह से असग नही होता। फलत. जडता, परिच्छिन्नता पराधीनता एव अभाव से पीडित होता ही है। यदि मानव

निज अनुभव के आधार पर विवेक विरोधी मान्यताओ से रहित हो जाये तो स्वत: विकास होता है। अपने को देह और देह को अपना न मानने से मोह और लोभ आदि विकारो का नाश हो जाता है। निर्विकारता की स्वत अभिव्यक्ति होती है जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। विवेक विरोधी मान्यता स्वीकार न करे यह मानव का अपना निर्णय है। इस निर्णय मे मानव समर्थ है। यह मानव-दर्शन है।

मानव क्या करता है ?

मानव मे कुछ जानने, कुछ मानने और करने की शक्ति है। क्रिया-जनित सुख के राग से प्रेरित होकर कुछ न कुछ करता ही रहता है। अपने में सकल्प उठते है। जगत् मे सकल्प-पूर्ति की सामग्री दीखती है। सकल्प-पूर्ति के सुख के प्रलोभन से वह कार्य मे प्रवृत्त होता है। सत्य और सुन्दर भासित होने वाली अस्तित्त्व-विहीन प्रतीति के पीछे व्यक्ति दौडता है, थकता है, जितना पाता है उतनी ही तृष्णा वढती जाती है, अन्त मे शक्तिहीनता, पराधीनता और अभाव शेष रह जाता है। सुखासक्ति से प्रेरित होकर वह करणीय तथा अकरणीय सव प्रकार के कर्म करता है और परिणाम में घोर कष्ट पाता है। फिर भी यदि विवेक विरोधी कर्मो का त्याग नही करता तो यह उसकी अनुभूति एव कर्म का असामञ्जस्य है।

वह जानता है कि सुख के भोगी को दु.ख भोगना ही पड़ता है; अपना किया हुआ कई गुणा होकर पुन. अपने पास आता है, भोग का परिणाम रोग और शोक है, मिले हुए का दुरुपयोग करना विनाश का मूल है; फिर भी भोग-प्रवृत्तियो से मुँह नही मोडता तो उसकी जानकारी और उसके कर्म का असामञ्जस्य है अर्थात् वह जैसा जानता है उसके विरुद्ध करता है।

इसके विपरीत यदि वह अपनी जानकारी का आदर करे और विवेक विरोधी कर्मो का त्याग कर दे तो उसके जीवन में से अकर्त्तव्य

का नाश हो जायगा। स्वार्थ-भाव सेवा-भाव मे विलीन हो जायगा। लोभ, मोह से रहित सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण होता है। सेवा-परायण मानव को परम-शान्ति मिलती है जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। यह मानव की अपनी बात है। यह मानव का अपना दर्शन है। सारॉश यह कि विवेक विरोधी सम्बन्ध, विश्वास और कर्म जीवन में है, तो दु.ख है, अवनति है, अर्थात् जानकारी, मान्यता एव कर्म मे असामञ्जस्य है। विवेक विरोधी सम्बन्ध, विश्वास और कर्म का त्याग कर दिया जाय तो दु.ख-निवृत्ति, परम-शान्ति, अमरत्त्व एव सरसता प्राप्त होती है अर्थात् वास्तविक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। यह जानकारी, मान्यता एव कर्म के सामञ्जस्य का परिणाम है। अपने जीवन में अपनी जानकारी का अनादर करके हम अपार दु ख भोगते है और उसका आदर करके विकास की चरम-सीमा तक पहुँच सकते है। यह मानव-दर्शन है।

जानकारी, मान्यता और कर्म के असतुलन का दूसरा रूप है— जिसे जान सकते है उसमे मान्यता लगाना, जिसे जाना नही जा सकता, केवल आस्था की जा सकती है, उसमे तर्क लगाना, जो करने से होता है उसका चिन्तन करना और जिसकी प्राप्ति कर्म, चिन्तन, स्थिति से असग होने पर होती है उसकी प्राप्ति के लिये श्रम करना।

'मै' और जगत् को जाना जा सकता है, परन्तु हम इनके सम्बन्ध में अनेक मान्यताये स्वीकार कर लेते है ऐसा करना भूल है। 'मै' और जगत् को विचार के क्षेत्र मे इसलिये रखा गया है कि इनके सम्बन्ध में हमारी अधूरी जानकारी है, पूरी नही। अधूरी जानकारी के कारण सन्देह होता है, जिज्ञासा उत्पन्न होती है और खोज द्वारा पूरा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अत. 'मै' के स्वरूप का बोध तथा जगत् के स्वरूप का परिचय अनुसन्धान का विषय है, अनुमान अथवा मान्यता का नही।

सुने हुए प्रभु को जाना नही जा सकता प्रत्युत माना जा सकता है क्योंकि सुने हुए प्रभु के सम्बन्ध में हम कुछ नही जानते। जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अगोचर है, उसमे विश्वास ही किया जा सकता है उस पर विचार नही चल सकता। जो सर्व का ज्ञाता है उसका कोई ज्ञाता नही हो सकता अपितु उसमे अविचल आस्था ही की जा सकती है; श्रद्धा, विश्वास एव आत्मीयता के द्वारा उसका प्रेम प्राप्त किया जा सकता है। अतः जो केवल विश्वास का विषय है, उसमे तर्क लगाना भूल है।

आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन एव उनकी प्राप्ति श्रम-साध्य है। जो श्रम-साध्य है उसका चिन्तन करने उसकी प्राप्ति नही होती। अतः ऐसा करना भूल है।

योग, वोध और प्रेम की अभिव्यक्ति श्रम-साध्य नही है। निष्कामता मे योग, असगता मे वोध, और आत्मीयता में प्रेम निहित है। निष्कामता, असगता और आत्मीयता अभ्यास नही है, स्वधर्म है। जाने हुए असत् के संग को त्याग कर, श्रमरहित होने पर इनकी अभिव्यक्ति स्वत होती है। परन्तु जव साधक निष्कामता से प्राप्त होने वाली शान्ति के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के अभ्यासो मे प्रवृत्त होता है, असगता से उदित होने वाली स्वाधीनता के लिये वौद्धिक व्यायाम करता है तथा आत्मीयता से जाग्रत होने वाली नित-नव-प्रियता के लिये प्रेमी का अभिनय करता है तो शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रियता उसे नही मिलती। अत ऐसा करना भूल है।

उपरोक्त भूलो को अपने द्वारा जानना तथा इनको मिटाकर

(क) 'मैं' और जगत् के स्वरूप की खोज करना;

(ख) सुने हुए प्रभु की आस्था स्वीकार करना, एव

(ग) मिले हुए का सदुपयोग करना, मानव का परम पुरुषार्थ है। ऐसा करते ही जानने, मानने तथा करने का असामञ्जस्य मिट जाता है जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। यह मानव-दर्शन है।

उपरोक्त भूलों के कारण ही दार्शनिकों का दर्शन उनके जीवन की उपलब्धि नहीं बनता और अनेक दार्शनिक मत-भेद उत्पन्न होते है। किसी दर्शनकार ने जो कुछ कहा है वह किन-किन दृष्टियों से ठीक है—इसी विवेचन में समय और शक्ति का अपव्यय होता रहता है। यह विवेचन आज मानव-जीवन से इतनी दूर हट गया है कि दर्शन-परिषद् में एक बार यह प्रश्न रखा गया था कि 'दर्शन' का जीवन से सम्बन्ध है ? और यदि है तो क्या है ? जो विषय केवल जीवन का ही विवेचन है, उसके सम्बन्ध में उपरोक्त प्रश्न का उठना स्वयं ही एक विचारणीय प्रश्न है। ऐसा विदित होता है कि विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से प्रतिपादित 'मैं', 'यह' और 'वह' के सम्बन्ध के विभिन्न सिद्धान्तो को बुद्धि के स्तर पर आलोचना का विषय बनाने से यह दशा हुई है।

"मानव-दर्शन" का प्रणयन बुद्धि के स्तर पर नही हुआ है। इसका दार्शनिक विवेचन अवस्थातीत जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर आधारित है। इसलिये इसमे एकांगीपन नही है। जीवन के गुह्यतम रहस्य खुल जाने के बाद, उच्चतम-विकास-प्राप्त अनुभवो द्वारा प्रतिपादित यह दर्शन मानव-जीवन को सभी परिप्रेक्ष्य में (in all perspectives) देखने की दृष्टि प्रदान करता है। यह दर्शन अपनी अभिव्यक्ति एव approach मे कई दृष्टियों से सर्वथा मौलिक है।

(१) इस दर्शन में केवल दार्शनिक तत्त्वो का विश्लेषण ही नही है, व्यक्ति की वर्तमान वस्तु-स्थिति के चित्रण से आरम्भ करके उसकी बुद्धिगम्य अनुभूतियो के सहारे अवस्थातीत जीवन की ओर अग्रसर होने के बहुत ही स्वाभाविक एव मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ बताई गई है। मानव-जीवन के सामान्य तथ्यों से तटस्थ किसी पूर्व प्रस्थापित सत्य को आधार बनाकर इस दर्शन का विवेचन आरम्भ नही हुआ है। व्यक्ति के जीवन की कठिनाइयों, उसकी आवश्यकताओ एवं उसके

दायित्व का स्पष्ट विवेचन अर्थात् व्यक्ति की वर्तमान वस्तु-स्थिति का समुचित परिचय इस दर्शन की भूमि है। यह दर्शन व्यक्ति की अभाव-युक्त दशा से आरम्भ होता है और पूर्ण जीवन से अभिन्नता मे पूर्ण होता है। इस प्रकार इस दर्शन मे जीवन ओत-प्रोत है।

(२) चूँकि मानव-दर्शन मे मानव-जीवन को परिप्रेक्ष्यो में (in all perspectives) देखने की दृष्टि प्रस्तुत है। इसलिये इसमे मानव-मात्र की मौलिक समस्याओ का हल ढूँढने के लिये सार्वदेशीय विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है। जीवन का कोई अङ्ग इसमे अछूता नही है। भाव, विचार और क्रियाशीलता तीनो ही शक्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में पायी जाती है। व्यक्तित्व के गठन की विभिन्नता के कारण कोई व्यक्ति भावप्रधान, कोई विचारप्रधान एवं कोई क्रियाशीलताप्रधान होते है।

मानव-दर्शन मे इस व्यक्तिगत भिन्नता (individual difference) के प्राकृतिक तथ्य को स्वीकार करते हुए विचारमार्ग, विश्वासमार्ग एव कर्त्तव्य-पथ तीनो को ही स्वतन्त्र पथ स्वीकार किया गया है और प्रत्येक के द्वारा वास्तविक जीवन (योग, बोध, प्रेम) से अभिन्न होने की बात दर्शायी गई है। किसी को प्रधान, किसी को गौण अथवा किसी का समर्थन एव किसी का विरोध नही किया गया है। इसके अनुसार जाने हुए असत् के त्याग से विचारवान को जिस वास्तविक जीवन की प्राप्ति होती है, माने हुए सत्य मे अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने से आस्थावान को भी उसी जीवन की प्राप्ति होती है तथा मिले हुए के सदुपयोग द्वारा कर्त्तव्य-निष्ठ को भी वही जीवन उपलब्ध होता है। इतना ही नही, भाव, विचार और क्रियाशीलता तीनों ही पहलुओ का सुन्दर समन्वय आस्तिकवाद, अध्यात्मवाद एव भौतिकवाद की दृष्टियो से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मानव-दर्शन समग्र जीवन के लिये प्रकाश प्रदान करता है और मानव-मात्र के विकास का पथ दर्शाता है।

(३) इसकी तीसरी मौलिकता यह है कि यह कर्त्तव्य-विज्ञान अर्थात् धर्म-विज्ञान की परावधि योग विज्ञान में, योग विज्ञान की परिसमाप्ति अध्यात्म विज्ञान में, और अध्यात्म विज्ञान की परिणति आस्तिक विज्ञान मे दिखाता है। दु ख की निवृत्ति इनमे से किसी भी विज्ञान से हो सकती है। दु ख-निवृत्ति की शान्ति मे जो रमण नही करते और असगता से प्राप्त स्वाधीनता मे जो सन्तुष्ट नही होते वे नित-नव-अगाध-अनन्त प्रियता से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो जाते है। मानव-दर्शन मे सम्पादित भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और आस्तिक-वाद का यह अभिनव समन्वय विचार की जिस उच्च भूमिका से किया है वह सर्वथा मौलिक है।

(४) 'मै' क्या है ? इसका विवेचन भी मानव-दर्शन मे नवीन ढग से हुआ है। मानव ब्रह्म अथवा आत्मा नही है और न वह शरीर ही है। वह कामना, जिज्ञासा और लालसा का पुञ्ज है। भोग की रुचि का अभाव होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की जाग्रति स्वत होती है और फिर मानव अपने अस्तित्त्व में शान्ति, स्वाधीनता एव प्रेम को ही पाता है। शान्ति मे रमण एव स्वाधीनता की सन्तुष्टि अहम् के अस्तित्त्व को जीवित रखती है किन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति प्रेमी के अहम्भाव को प्रेम से अभिन्न कर देती है अर्थात् प्रेम से भिन्न प्रेमी का कोई अस्तित्त्व नही रहता अथवा यो कहो कि प्रेम के प्रादुर्भाव मे अहम् की गध भी नही रहती। प्रेम जिसमें अभिव्यक्त होता है उसको खाकर जिसके प्रति होता है उसको नित-नव रस प्रदान करता है। इस दृष्टि से मानव का अस्तित्त्व प्रेम और प्रेमास्पद का नित-नव विहार ही है।

प्रेमास्पद ने मानव का निर्माण अपने में से ही अपने ही लिये किया है। इस कारण उसे इतना सुन्दर बनाया है कि वह निर्ममता से उदित निर्विकारता के सौन्दर्य तथा निष्कामता से प्राप्त ऐश्वर्य एव आत्मीयता से उदित माधुर्य से परिपूर्ण है। मानव अपने रचयिता की

ही जाति का है। इतना ही नही, स्वरूप से भी अभिन्न है। केवल अपने आश्रय तथा प्रकाशक को नित-नव रस देने में ही उसकी पूर्णता है।

(५) मानव-दर्शन ने हमें एक और नूतन बात यह बतायी है कि प्रत्येक कर्म भाव में और भाव लक्ष्य मे विलीन होने से मानव का उत्तरोत्तर विकास ही होता है पर भाव यदि कर्म मे लीन हो जाये तो कर्म अन्त मे अपना फल देकर अभाव मे ही आवद्ध कर देता है, जो असमर्थता और पराधीनता की भूमि है। इस कारण प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म पवित्र भाव से तथा लक्ष्य पर दृष्टि रखकर ही करना है। ऐसा करने से कर्म भाव में तथा भाव लक्ष्य मे विलीन होता है जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इतना ही नही, 'करना' 'होने' में विलीन होकर 'है' से अभिन्न हो जाता है अर्थात् कर्म के भाव में लीन होने से सृजनात्मक प्रतिभा और शक्ति का विकास स्वाभाविक रूप से होता है और भाव का प्रीति मे या 'होने' का 'है' मे लीन होना जीवन की पूर्णता है जिसमे रस का पारावार नही है।

(६) परम-तत्त्व की नित-नव-अगाध अनन्त प्रियता को मानव-दर्शन में साधनतत्त्व कहा गया है। यद्यपि साधनतत्त्व साध्य का ही स्वभाव है किन्तु मानव की अभिन्नता साधनतत्त्व से ही होती है। साधनतत्त्व साध्य के ही समान अनन्त, नित्य, चिन्मय है जो मानव का जीवन है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की पूर्णता मानव-दर्शन मे साधनतत्त्व से अभिन्न होनें मे ही वतायी गई है। मानव विकास की परावधि साध्य को रस देने मे ही निहित है। साध्य की अगाध, अनन्त प्रियता से भिन्न साधनतत्त्व का और कोई अस्तित्त्व नही है अर्थात् प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार ही साधनतत्त्व और साध्य का स्वरूप है।

(७) जहां तक पथ विवेचन का प्रश्न है इस दर्शन की एक मौलिक देन यह भी है कि विचार और विश्वास, तर्क और श्रद्धा,

खोज और आस्था को भिन्न भिन्न और स्वतंत्र पथ माना गया है। परिचय के प्रारम्भ में ही इसका स्पष्ट उल्लेख किया जा चुका है। इस दर्शन के अनुसार 'दर्शन' एक खोज है जिसमें पहले से कुछ मान-कर चलना बौद्धिक ईमानदारी नही है। तर्क में श्रद्धा का मेल दर्शन को Scholasticism मे बदल देता है। यह Scholasticism माने हुए सत्य को बौद्धिक रूप मे सही सिद्ध करने का प्रयास है। मानव-दर्शन इस दोष से रहित है। इस प्रकार दार्शनिक रचना को यह एक नई दिशा प्रदान करता है।

(८) इस दर्शन मे विभिन्न दर्शनों के विशिष्ट सिद्धान्तों की सीमा को पार कर सभी सिद्धान्तो की अन्तिम परिणति के रूप में 'नित्यजीवन' 'नित्य जाग्रति' एक नित-नव-अगाध-अनन्त प्रियता को ही लक्ष्य बताया गया है जो मानव-मात्र की माँग है और जिसकी प्राप्ति मे मानव-मात्र स्वाधीन है। इस प्रकार किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन न करते हुए सभी सिद्धान्तों के दृष्टिकोणों का भेद मिट गया है क्योंकि सभी मे जीवन की विशिष्टता की बाते है जो कि मानव-दर्शन की पूर्णता में समाहित हो गई है। अतः मानव-दर्शन एक अनुसन्धान है जिसमे जीवन की एकता के मूल तथ्य को लेकर दर्शन की एकता स्थापित की गई है।

(९) मानव-दर्शन वह दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा व्यक्तिगत जीवन मे क्रान्ति अर्थात् समस्त जीवन में दिव्य रूपान्तर लाया जा सकता है। लेकिन इस क्रान्ति या दिव्य रूपान्तर के लिये मानव दर्शन की मौलिक दृष्टि मे पराधीनता या पराश्रय नही है। स्वाधीनता की प्राप्ति के साधन में भी स्वाधीनता ही है। आवश्यकता के अनुभव की उत्कटता ही आवश्यकतापूर्ति का अचूक सर्वोत्तम उपाय है। मानव-दर्शन व्यक्तिगत जीवन का विफलता और सामाजिक जीवन के संघर्ष दोनों के निराकरण में समान रूप से उपयोगी है। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण मानव-दर्शन

को अपनाने से सहज हो जाता है। मानव-दर्शन किसी अन्य दर्शन का विरोधी नही है क्योकि इसकी दृष्टि मे अन्य का मत आदरणीय और अपना ही मत अनुसरणीय है।

मानव-दर्शन इस प्रकार एक क्रान्तिकारी सर्व हितकारी विचार-धारा का आविर्भाव है जो अपनी अभिव्यक्ति एव approach मे सर्वथा मौलिक है।

विनीता—
देवकी

—: ० :—

मानव-जीवन की समस्या, मानव-दर्शन का महत्त्व

प्रत्येक मानव मे तीन बाते है, जानना, मानना और करना। जब तक इन तीनो मे सामञ्जस्य रहता है तव तक मानव उत्तरोत्तर विकास की ओर बढता रहता है। जब इस सामञ्जस्य में असतुलन आ जाता है तव मानव पराधीनता, अभाव आदि दोषो मे आबद्ध हो जाता है। इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि मानव अपने जाने हुए का आदर करे। जाने हुए के प्रभाव से ही किए हुए के प्रभाव का नाश होता है, जिसके होते ही करने का राग मिट जाता है। राग रहित होते ही सेवा, त्याग, प्रेम आदि दिव्यता की जीवन में अभिव्यक्ति स्वत होती है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो मानव निज विवेक का आदर नही कर सकता वह सदग्रन्थो एव गुरुजनों से प्राप्त प्रकाश का भी आदर नही कर सकता। इस कारण प्रत्येक मानव को निज विवेक का आदर करना अनिवार्य है।

सुने हुए मे आस्था होती है और जाने हुए का अनुभव होता है। अनुभव विकल्प रहित होता है। देखे हुए मे अर्थात् प्रतीति में ममता, कामना एव तादात्म्य होता है। इस दृष्टि से देखे हुए मे और जाने हुए में बडा भेद है। जाना हुआ दर्शन है, देखा हुआ नही।

मानव जो भी जानता है उसका यदि अनादर न करे तो वह ममता, कामना और तादात्म्य से रहित हो सकता है। ममता, कामना और तादात्म्य के रहते हुए किसी भी मानव को निर्विकारता, परमशान्ति

तथा अपरिच्छिन्नता प्राप्त नही होती और इनके प्राप्त बिना हुए अभाव का अभाव सम्भव नही है। इस कारण मानव को अपने दर्शन मे अविचल आस्था करना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि मानव का अपना दर्शन क्या है ? दर्शन का अर्थ है जानना, अर्थात् हम जो जानते है। इसके लिए किसी अन्य के सहयोग की अपेक्षा न होगी अपितु अपने ही द्वारा अपनी जानकारी का अनुभव करना होगा। अब यदि कोई यह कहे कि क्या अपना अनुभव और अपनी जानकारी भिन्न-भिन्न वस्तु है ? कदापि नही। तो फिर अपनी जानकारी के अनुभव का अर्थ क्या होगा ? इस सम्बन्ध मे विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जाने हुए का सुने हुए अथवा किए हुए के आधार पर अनादर न करे। यही अपनी जानकारी का अनुभव है। जिस प्रकार यह सभी को मान्य है कि जिस किसी के पास जो कुछ वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के रूप मे प्राप्त है वह उसका अपना व्यक्तिगत नही है, फिर भी मिले हुए में ममता कर लेना अपनी जानकारी का अनादर करना है। जानकारी का अनादर करने से जानकारी का प्रभाव अपने पर नही रहता। जब जाने हुए का प्रभाव नही रहता तब भूलजनित अनेको दोष उत्पन्न होते है। उन दोषो का अन्त करने के लिए प्रत्येक मानव को अपने जाने हुए का आदर करना अनिवार्य है। देखे हुए और जाने हुए मे एक बडा भेद है। देखना किसी करण की अपेक्षा से होता है, पर जानना किसी करण की अपेक्षा नही रखता, अपितु अपने ही द्वारा स्वय जाना जाता है। प्रत्येक मानव को वह प्रकाश प्राप्त है जिसके आश्रित वह इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देखता है। देखना प्रवृत्ति है। जानना प्रवृत्ति नही है। किन्तु मानव प्रमादवश देखने और जानने को समान मान लेता है। "देखा हुआ जाना हुआ है" यह निर्विवाद नही है। जो वस्तु जैसी दिखाई देती है वह वैसी ही है, यह स्वीकार करना भूल है। इस कारण प्रत्येक मानव को इस गम्भीर

समस्या पर विचार करना होगा कि वह जानता क्या है और देखता क्यों है ? उस पर देखे हुए का प्रभाव है अथवा जाने हुए का। जब तक जीवन में देखे हुए का प्रभाव रहता है तब तक वह स्वाधीनता से पराधीनता की ओर, चेतना से जड़ता की ओर एवं असीम से सीमित की ओर गतिशील रहता है। परन्तु ज्यों-ज्यों जाने हुए का प्रभाव स्थायी होता जाता है त्यो-त्यो देखे हुए का प्रभाव मिटता जाता है। सर्वाश मे देखे हुए का प्रभाव मिटते ही स्वत प्रत्येक मानव स्वाधीन चिन्मय एव असीम जीवन से अभिन्न होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक मानव जब तक निज दर्शन अर्थात् अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित नही होगा तब तक वास्तविक जीवन की प्राप्ति नही होगी। अतः मानव दर्शन के अपनाने में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है।

मानव-दर्शन की आवश्यकता

प्रत्येक मानव का अपना एक स्वतंत्र दर्शन है। परन्तु दार्शनिकों के दृष्टिकोण को अपनाना आस्था है, दर्शन नही। आस्था विकल्प रहित होने से दर्शन के समान ही प्रतीत होती है, पर दर्शन नही होती। दर्शन में आस्था की अपेक्षा नही है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब प्रत्येक मानव अपने दर्शन का आदर पूर्वक अनुसरण करे। इसका अर्थ यह नही है कि दूसरो का दर्शन दर्शन नहा है। दर्शन तो अनेक है पर जीवन एक है अर्थात् एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेकों दृष्टिकोण है। लक्ष्य की एकता से सभी दार्शनिक एक है किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन रूप दर्शन भिन्न-भिन्न है। भिन्न-भिन्न दर्शन होने पर भी उनका मूल प्रकाशक एक है। देखे हुए का निर्णय देखने की शक्ति के द्वारा नही होता अपितु उसी प्राप्त प्रकाश के द्वारा होता है जिसकी सत्ता से देखने की प्रवृत्ति सिद्ध होती है। प्रत्येक मानव को मुख्यत. दो दृष्टियाँ प्राप्त है। इन्द्रिय-दृष्टि और बुद्धि-दृष्टि। दृष्टि दो है और दृश्य एक है। जिसमे देखने की रुचि है

वही मानव है और जिसके प्रकाश मे देखता है वही समस्त दर्शनो का आधार है, आश्रय है। देखने का प्रभाव उसी पर होता है जिसमे देखने की रुचि है। देखने की रुचि प्रकाशक में नही होती अपितु उसी मे होती है जो अपने मे इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि को आरोपित करता है। जिसने दृष्टियों को अपनाया है उसी मे देखने की रुचि है और वही मानव का अस्तित्व है। जो प्रकाश दृष्टियो को सत्ता देता है उसी प्रकाश से दृश्य भी सत्ता पाता है। दृश्य और देखने की शक्ति तथा देखने का भोक्ता इन तीनो में गुणो की भिन्नता भले ही हो, पर जातीय एकता है, कारण, कि जातीय एकता के विना देखने की रुचि, देखने की सामर्थ्य तथा देखने की प्रवृत्ति सिद्ध ही न होती। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव देखने की रुचि को पोषित करता है अर्थात् अनेक बार देखने पर भी देखने का राग नष्ट नही होता परन्तु बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को नष्ट कर देता है। और फिर देखने की रुचि जिज्ञासा के रूप में परिणत हो जाती है। जो देखता था वह अब जिज्ञासु होने से देखे हुए की वास्तविकता का अनुभव करने के लिए तत्पर होता है। जिज्ञासा देखने की रुचि का अन्त कर स्वत. पूरी हो जाती है अर्थात् राग-रहित होते ही देखे हुए की वास्तविकता का बोध स्वत हो जाता है जो वास्तविक दर्शन है। जिसके होते ही देखे हुए की ममता, कामना तथा उसके तादात्म्य का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही निर्विकारता, परमशान्ति एव असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय-जीवन से अभिन्नता स्वत होती है जो मानवमात्र का अपना लक्ष्य है। इस दृष्टि से दर्शन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। परन्तु दृष्टियो के द्वारा जिस दर्शन की अनुभूति होती है, वह व्यक्तिगत दृष्टिकोण होने से साधनरूपता है पर वास्तविक दर्शन नही है। वास्तविक दर्शन की प्राप्ति होती है और साधन रूप दर्शन का वर्णन होता है। इस कारण सभी दार्शनिकों के दर्शन का आदर करते हुए प्रत्येक मानव को अपने दर्शन का अनुसरण करना है।

जब तक मानव देखे हुए का सुख भोगता रहता है तब तक उसमें जिज्ञासा उदित नही होती। देखे हुए के परिणाम का प्रभाव होने पर देखने की रुचि शिथिल हो जाती है। जिसके होते ही जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा के सबल तथा स्थायी होने से देखने की कामना और देखे हुए दृश्य की ममता नाश हो जाती है। कामना का नाश होते ही परम-शान्ति और ममता का अन्त होते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। और फिर स्वत. विचार का उदय होता है जो दृश्य की वास्तविकता का बोध कराने में समर्थ है। बस यही विचार पथ है।

किसी का बोध किसी की आस्था भले ही हो पर बोध मे आस्था और आस्था में बोध को सम्मिलित करना जिज्ञासा और आस्था को दूषित करना है। जिज्ञासा की जाग्रति सन्देह की वेदना में निहित है। सन्देह काल में आस्था का भार जिज्ञासु पर लाद देना जिज्ञासा को निर्जीव बनाना है। सन्देह रहते हुए आस्था सजीव नही होती और जिज्ञासु को आस्था में आबद्ध करने का प्रयास करना जिज्ञासु के लिए हितकर नही है। उसी प्रकार आस्था मे विचार लगाना विश्वास-पथ के साधक के साथ घोर अन्याय है। अत सन्देह की वेदना के आधार पर जिज्ञासु में तीव्र जिज्ञासा जगने दो तभी वह अपने दर्शन द्वारा वास्तविक दर्शन से अभिन्न हो कृतकृत्य हो सकेगा। जिज्ञासा सदैव देखे हुए के प्रति होती है और आस्था उसमें हो सकती है जिसको इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से नही देखा है, अपितु आस्थावान महापुरुषो से सुना है। सुने हुए में आत्मीयता हो सकती है। उस पर विचार नही किया जा सकता। विचार तो अपने पर अथवा अपने देखे हुए पर ही हो सकता है; कारण, कि बुद्धि-दृष्टि तथा इन्द्रिय-दृष्टि को बुद्धि-ज्ञान तथा इन्द्रिय-ज्ञान भी कहते है जो अल्प ज्ञान है। अल्प ज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नही, अपितु अधूरा ज्ञान है। अधूरे ज्ञान को ज्ञान मान लेने से देखे हुए का प्रभाव अङ्कित हो जाता है जो

वास्तविकता से विमुख करने में हेतु है। इस दृष्टि से दृष्टि और प्रकाश में भेद स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रकाश जिसका है उसमें तो आस्था हो सकती है, उस पर विचार नही किया जा सकता। अतः मानव प्राप्त प्रकाश के द्वारा देखे हुए पर विचार करे। देखे हुए पर विचार करने से दृश्य की वास्तविकता का बोध होगा जिसके होते ही देखने की रुचि नाश होगी और फिर दृष्टियाँ अपने उद्गम में विलीन होगी। दृष्टियो के विलीन होते ही देखने का राग जिसमे था वह और दृष्टि एव दृश्य, ये तीनो ही अपने आश्रय में विलीन होकर प्राप्त प्रकाश के द्वारा उस प्रकाशक से अभिन्न हो जायेगे। फिर स्वतः वास्तविक दर्शन की अभिव्यक्ति होगी जो निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है। निस्सदेहता और आस्था इन दोनो का स्वरूप एक है। जिज्ञासु सन्देह रहित होकर आस्थावान होता है और विश्वासी विश्वासपात्र की प्रीति होकर निस्सन्देह होता है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक मानव में किसी न किसी रूप में, किसी न किसी के प्रति आस्था भी होती है। मानव जीवन में जाने हुए के समान ही आस्था का भी स्थान है पर विवेक विरोधी आस्था सर्वथा त्याज्य है। यह आवश्यक नही है कि आस्था विवेक से समर्थित हो पर यह आवश्यक है कि आस्था मे विवेक का विरोध न हो। विवेक विरोधी आस्था देखे हुए में ममता, कामना तथा तादात्म्य उत्पन्न करती है जो सर्वदा अहितकर है। आस्था वही साधन रूप है जो किसी दृष्टि का आश्रय नही रखती अपितु किसी आस्थावान की देन है। अविचल आस्था श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। विना देखे की आत्मीयता देखे हुए की ममता का नाश कर आस्थावान को प्रियता प्रदान करती है। प्रियता स्वभाव से ही रस-रूप होने से नीरसता का सर्वांश मे अन्त करने मे समर्थ है। नीरसता का अन्त होते ही निष्कामता, निर्ममता स्वतः जाग्रत होती है। कारण, कि समस्त कामनाओ का उद्गम नीरसता में ही है। इस दृष्टि से प्रियता

के जाग्रत होने पर भी देखे हुए का प्रभाव सर्वांश में नाश हो जाता है जिसके होते ही अनेकता एकता में, भिन्नता अभिन्नता में विलीन हो जाती है और फिर आस्था पथ का पथिक भी उसी परम-तत्त्व को प्राप्त होता है, जिसे जिज्ञासु ने विचार-पथ से प्राप्त किया था। जिज्ञासा और आस्था का फल समान होने पर भी जिज्ञासा में आस्था को और आस्था में जिज्ञासा को मिलाने से न तो तीव्र जिज्ञासा ही होती है और न अविचल आस्था ही। तीव्र जिज्ञासा के बिना निष्कामता की अभिव्यक्ति सम्भव नही है और निष्कामता के बिना जिसमें देखने की रुचि है उसमे तथा दृष्टि एव दृश्य इन तीनो मे एकता नही होती, जिसके विना हुए समता नही आती। समता के बिना योग तथा बोध की अभिव्यक्ति नही होती। इस कारण जिज्ञासा में आस्था मिलाना भूल है। निस्सन्देहता की मॉग और सन्देह की वेदना से ही जिज्ञासा तीव्र होती है। तीव्र जिज्ञासा स्वत कामनाओ को खा लेती है। कामनाओ की निवृत्ति और विचार का उदय युग पद है। विचार का उदय होते ही स्वत बोध होता है जो वास्तविक दर्शन है।

अविचल आस्था निस्सन्देहता से ही पुष्ट होती है। निस्सन्देहता में सन्देह को जगाने का प्रयास आस्था मे विकल्प करना है। आस्था सदैव बिना देखे मे होती है जो दृष्टिगोचर नही हुआ उस पर विचार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नही है। आस्था करे अथवा न करे इसमे मानव स्वाधीन है पर आस्था में विकल्प करना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नही है। विकल्प-रहित आस्था ही श्रद्धा, विश्वास की जननी है। श्रद्धा, विश्वास से ही आत्मीयता जाग्रत होती है। अत आस्था मे सन्देह करना आस्था को निर्जीव वनाना है। इस दृष्टि से जिज्ञासा और आस्था दोनों ही स्वतत्र पथ हैं। देखे हुए पर विचार और बिना देखे पर आस्था हो सकती है। देखे हुए मे विश्वास और बिना देखे हुए पर विचार करना विश्वास और विचार का दुरुपयोग है।

प्रतीति जिसमे है, जिसकी है और जिसके द्वारा है—इन तीनो मे गुणो की भिन्नता होने पर भी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। यदि ऐसा न होता तो जो प्रतीति-कर्ता है उसकी प्रतीति मे ममता तथा कामना न होती। कामना जिसकी है वह और जिसमे वह है इन दोनो मे किसी न किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता है। यह सभी को विदित है कि सभी कामनाएँ किसी की पूरी नही हुई और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी हुई। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कामना की पूर्ति कामना के अधीन नही है, अपितु किसी विधान के अधीन है। इतना ही नही, कामना अपूर्ति और पूर्ति इन दोनों का परिणाम भी एक ही है। कामना अपूर्तिकाल मे जो पराधीनता भासती है वही पराधीनता कामना पूर्तिकाल मे भी ज्यो की त्यो रहती है अतः कामनापूर्ति अपूर्ति का परिणाम समान है। किन्तु कामनापूर्ति को महत्व देना और अपूर्ति से क्षुब्ध होना पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को जीवित रखना है जो वास्तव मे भूल है। **दर्शन से भूल का नाश होता है, वस्तुस्थिति का नहीं।** भूल का नाश होते ही स्वत. सजगता प्राप्त होती है जो विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार वस्तुस्थिति सतत् परिवर्तनशील है। उत्पत्ति और विनाश का क्रम ही स्थिति के रूप मे प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखा हुआ वैसा नही है जैसा दिखाई देता है। देखे हुए मे सन्देह होने ही जिज्ञासा जाग्रत होती है जो दर्शन का मूल है।

देखे हुए का स्वतंत्र अस्तित्व न होने पर भी देखे हुए का उपयोग करने की रुचि मानव मे विद्यमान है। उस रुचि की पूर्ति होने पर ही करने का राग नाश होता है जिसके होते ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नही होती और स्वभाव से ही कर्त्तव्यपरायणता आ जाती है जिसके आते ही मिले हुए का सदुपयोग और पारस्परिक एकता तथा स्नेह सुरक्षित रहता है जो विकास का मूल है। इस दृष्टि से जो करना चाहिए उसके करने की अभिरुचि भी मानव में विद्यमान है। अब

विचार यह करना है कि करना क्या है ? सामर्थ्य और विवेक जिस कार्य के समर्थक है, वही करना है। सामर्थ्य विरोधी कार्य कोई कर नही सकता और विवेक विरोधी कार्य मानव को करना नही चाहिए। जो नही कर सकते उसके और जो नही करना चाहिये उसके न करने से जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक है।

मानव-दर्शन के आधार पर जानना, मानना तथा करना—इन तीनो का उपयोग वास्तविक जीवन की प्राप्ति में ही है। जाने हुए का प्रभाव और मिले हुए का सदुपयोग तथा जिसे देखा नही है उसकी आस्था प्रत्येक मानव के लिए साधन रूप है। इनमे से किसी एक को अपना लेने पर क्रमश. सभी स्वत आ जाते है, कारण, कि जीवन एक है। परिस्थिति भेद से इनमे से किसी एक को अपनाना आवश्यक है। किसको क्या अपनाना है, इसमें व्यक्तिगत स्वाधीनता है। व्यक्तिगत स्वाधीनता का अनुसरण करने पर सभी साधनो की अभि-व्यक्ति स्वत होती है। इस दृष्टि से साधन अनेक और साध्य एक है। प्रत्येक मानव साधक है। साधक होने से उसका कोई साध्य है और उस पर कोई दायित्व है। दायित्व को पूरा करने पर साध्य से अभिन्नता होती है। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व वही है जो स्वा-धीनता पूर्वक पूरा किया जा सकता है। दायित्व को पूरा करने मे कोई असमर्थ तथा परतत्र नही है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने दर्शन को आदरपूर्वक अपनाये। जानने, मानने तथा करने की शक्ति साधन सामग्री है, समष्टि शक्तियों से निर्मित है, व्यक्तिगत सम्पत्ति नही है। परन्तु उसके सदुपयोग में मानव का अधिकार है उसकी ममता मे नही। ममता तादात्म्य को जन्म देती है और सदुपयोग से स्वतः असङ्गता प्राप्त होती है। तादात्म्य परि-च्छिन्नता, जडता तथा पराधीनता में आबद्ध करता है और असङ्गता असीम, अनन्त तथा चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। इस दृष्टि

से तादात्म्य का नाश तथा असङ्गता की अभिव्यक्ति वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है।

मानव-दर्शन की आवश्यकता इसलिए है कि मानव मिले हुए में ममता न करे और न उसका दुरुपयोग ही। निर्मम होकर मिले हुए का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान है। कर्त्तव्यपरायणता योग-विज्ञान की जननी है। योग-विज्ञान सामर्थ्य का स्रोत है। सामर्थ्य से ही स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता स्वत. चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से निर्मम होकर मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है। निर्मम होते ही निष्कामता का प्रादुर्भाव होता है। निर्ममता से निर्विकारता और निष्कामता से परम-शान्ति स्वत. प्राप्त होती है। निर्विकारता एवं शान्ति में रमण न करने से असङ्गतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। जब मानव को प्राप्त स्वाधीनता भी सन्तुष्ट नही कर पाती तब उसकी अहैतुकी कृपा से, जिसे देखा नही है, स्वत प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जो वास्तविक जीवन है। निर्विकारता, परम-शान्ति, स्वाधीनता एव प्रेम ये सब एक ही धातु से निर्मित है अर्थात् इन सब का आश्रय और प्रकाशक कोई एक ही है। उसी मे अविचल आस्था होती है।

यह सभी को मान्य होगा कि जाने हुए का प्रभाव ही मिले हुए की ममता के त्याग मे हेतु है। निर्मम होने पर ही निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है। निष्कामता से ही परम-शान्ति और शान्ति में रमण न करने से असङ्गतापूर्वक स्वाधीनता की प्राप्ति होती है और स्वाधीनता में सन्तुष्ट न रहने से अगाध, अनन्त, नितनव-प्रियता उदित होती है। इस दृष्टि से जाने हुए का प्रभाव ही समस्त साधनो की भूमि है।

जिसने अहैतुकी कृपा से प्रेरित हो मानव-जीवन का निर्माण किया है उसने आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु ऐसे अनुपम

ढग से प्रदान की है कि मिला हुआ मानव को अपना ही मालूम होता है। यद्यपि कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नही है परन्तु उस दाता की यह महिमा है कि मिला हुआ अपना जैसा ही लगता है। इसका अर्थ यह नही है कि मिले हुए में ममता की जाय, उसका सदुपयोग न किया जाय और दाता की अनुपम उदारता का आदर न किया जाय। जिसने सब कुछ दिया है उसमें अविचल आस्था अनिवार्य है। आस्था, श्रद्धा विश्वासपूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। इस दृष्टि से आस्था बडे ही महत्व की वस्तु है। पर उसका उपयोग देखी हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में करना भूल है। परिस्थिति आदि में आस्था करने से परिस्थितियों से तादात्म्य हो जायेगा जो विनाश का मूल है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि आस्था एकमात्र उसी में करनी है जिसे देखा नही है। अत जाने हुए का प्रभाव, मिले हुए का निर्ममता तथा निष्कामतापूर्वक सदुपयोग एवं उसमें आस्था, जिसे देखा नही है, मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा जब मानव निजदर्शन में विकल्प न करे।

स्वभाव से ही प्रत्येक मानव में करने, जानने तथा मानने की माँग है और किसी न किसी रूप में जानते, मानते तथा करते भी हैं। किन्तु विचार यह करना है कि जो जानना चाहिये वही जानते हैं, जो मानना चाहिये वही मानते है और जो करना चाहिये वही करते हैं क्या? यदि वही जानते, मानते, और करते हैं तो फिर मानव जीवन में किसी प्रकार का अभाव नही रहना चाहिये। परन्तु वर्तमान वस्तुस्थिति में अभाव है। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक मानव अपने ही द्वारा इस बात का अनुभव करे कि वह क्या जानता, मानता तथा करता है अर्थात् अपना निरीक्षण करने पर ही मानव को मानव-दर्शन का स्पष्ट बोध होगा, जिसके होते ही बड़ी ही सुगमता पूर्वक वास्तविक-जीवन की प्राप्ति होगी, यह निर्विवाद है; कारण कि मावन जीवन का जो उद्देश्य है उसकी पूर्ति में मानव सर्वदा

स्वाधीन है। पराधीनता एकमात्र तभी तक जीवित है जब तक मानव मानव-दर्शन से अपरिचित है।

अपने को प्रतीति और स्वीकृति के रूप में भी जानते है। पर यह जानना मानव-दर्शन से समर्थित नही है अपितु इन्द्रियों के द्वारा जो सुना है उसी को मान लिया है। सुना हुआ विश्वास हो सकता है, ज्ञान नही। अत अपने सम्बन्ध मे अपने ही द्वारा जानना, जानना होगा, सुना हुआ जानना नही हो सकता। अब अपने सम्बन्ध मे अपने द्वारा क्या जानते है ? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी स्वीकृति तथा प्रतीति का अर्थ 'मैं' नही है। समस्त प्रतीतियाँ "यह" कर के विदित होती है। "यह" को ही "मैं" मान लेना जानना नही है अपितु भूल है। इस भूल को भूल न मानने पर शरीर मे अहम्-वुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जिसके उत्पन्न होते ही अनेको विकार उत्पन्न होते है जिनके होते ही अनेक प्रकार की पराधीनताओं, जड़ता और अभाव मे मानव आवद्ध हो जाता है। पराधीनता तथा अभाव आदि की वेदना इस भूल को मिटाने की प्रेरणा देती है। और फिर मानव प्राप्त प्रकाश मे जब अपने सम्बन्ध मे खोज करता है तव उसे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि प्रतीति 'मैं' नही हूँ अर्थात् शरीर 'मैं' नही हूँ। शरीर में अहम् वुद्धि रहती है तव मम वुद्धि उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यह जानना भी भूल से रहित नही है; कारण, कि शरीर सृष्टिरूपी सागर की एक वूँद के तुल्य है। जब सागर व्यक्तिगत नही है तो भला उसकी वूँद अपनी कैसे हो सकती है ? अत शरीर की ममता भी भूल ही है। इस भूल को भूल जानते ही यह स्वत अनुभव होता है कि न तो शरीर 'मैं' हूँ, और न वह मेरा है। इस अनुभव से यह तो स्पष्ट नही होता कि 'मैं' क्या हूँ ? यही विदित होता है कि शरीर 'मैं' नही हूँ और वह मेरा नही है केवल भूल से ही शरीर में अहम् तथा मम वुद्धि उत्पन्न हो गई है।

प्राकृतिक नियमानुसार उत्पत्ति का विनाश अपने आप होता है।

और भूल को भूल जान लेने पर भूल सदैव के लिए नाश हो जाती है। इस भूल के नाश होते ही निष्कामता, निर्विकारता स्वतः आ जाती है जिसके आते ही वह विचार स्वत जाग्रत होता है जो अविचार का अन्त कर मानव को वास्तविकता से अभिन्न कर देता है, अत यह समस्या हल हो जाती है कि 'मैं' मानव-दर्शन की दृष्टि से क्या है। उसका वर्णन एकमात्र सकेत भाषा से ही सम्भव है। कारण, कि जिन करणो के द्वारा वर्णन किया जाता है वे 'यह' के ही रूप हैं। 'यह' और 'मैं' की भिन्नता होने पर 'यह' के द्वारा 'मैं' का स्पष्ट वर्णन सम्भव नही है किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि अपने को अपना बोध नही होता। बोध होता है पर वर्णन सकेतमात्र ही सम्भव है। इस दृष्टि से, 'मैं' की वास्तविकता का बोध स्वय के द्वारा स्वय को ही होता है।

जिस प्रकार प्रतीति 'मैं' से भिन्न है उसी प्रकार समस्त स्वीकृतियाँ भी 'में' से भिन्न हैं; कारण, कि 'मैं' एक और स्वीकृतियाँ अनेक अर्थात् एक ही 'मैं' अनेक स्वीकृतियो का आरोप है और प्रत्येक स्वीकृति किसी न किसी प्रवृत्ति की जननी है अर्थात् स्वीकृति के अनुरूप कुछ न कुछ करने की वात उत्पन्न होती है, यद्यपि करने का सम्बन्ध सदैव 'पर' के प्रति है 'स्व' के नही। इस दृष्टि से स्वीकृति स्वरूप नही है अपितु मिली हुई वस्तु सामर्थ्य योग्यता के उपयोग का प्रतीक मात्र है। जो 'मैं' नही है 'मेरा' नही है उसी का उपयोग विश्व के प्रति करने के लिए स्वीकृति एक प्रतीक मात्र है। यह नियम है कि पवित्रता पूर्वक स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति होने पर स्वीकृति प्रवृत्ति होकर 'पर' की सेवा मे विलीन हो जाती है। अत स्वीकृतियों को भी 'मैं' मानना भूल ही है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव करने के राग, पाने के लालच और जीने की आशा से रहित हो जाता है, कारण, कि पाने के प्रलोभन में पराधीनता की व्यथा और जीने के प्रलोभन में मृत्यु का भय तथा करने के

राग में श्रमित होकर असमर्थ होने की वेदना सतत् विद्यमान रहती है जो मानव की माँग नही है। इस कारण सजगतापूर्वक कर्तव्यपरायणता द्वारा करने के राग से और निष्कामतापूर्वक पाने के प्रलोभन से तथा देहाभिमान से रहित होकर मृत्यु के भय से मुक्त होना अनिवार्य हो जाता है।

प्रतीति तथा स्वीकृतियो से रहित जो है उसमें किसी प्रकार का विकार नही है अर्थात वह निर्विकार है। निर्विकारता मानव की माँग है। अत. अपने द्वारा अपनी खोज करने पर निर्विकारता से अभिन्नता स्वत. हो जाती है और 'मैं' का अस्तित्व एकमात्र उसी का प्रेम हो जाता है। प्रेम, प्रेमास्पद से विभाजित नही होता। प्रेम स्वभाव से ही क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति से रहित है और सदा उत्तरोत्तर वढता ही रहता है। इतना ही नही, प्रेम, प्रेमास्पद के तुल्य अनन्त ही है।

'मैं' की खोज करते करते जिससे अभिन्नता हुई वास्तव में वही आस्था, श्रद्धा, विश्वास का पात्र है। पर मानव उसमें आस्था न करके प्रतीति और स्वीकृतियों में आस्था कर वैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रतीति के अनुरूप प्रवृत्ति होती है पर प्राप्ति नही होती और स्वीकृति का भास तो होता है पर वोध नही होता। जो प्राप्ति तथा बोध से रहित है उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस भूल का अन्त किये बिना मानव न तो जाने हुए का आदर ही कर पाता है और न उसकी श्रद्धास्पद में श्रद्धा ही होती है। जाने हुए का अनादर करने से अकर्तव्य, असाधन और आसवितयों की उत्पत्ति होती है और श्रद्धास्पद में श्रद्धा न होने से ममता, कामना तथा तादात्मय की उत्पत्ति हो जाती है जो विनाश का मूल है।

जाने हुए का आदर किये बिना मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग सम्भव नही है; कारण, कि जो सामग्री विश्व की सेवा के लिये मिली थी जाने हुए का अनादर करने पर उस सामग्री के

द्वारा मानव अपना सुख सम्पादन करने लगता है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार सुख के भोगी को दु ख विवश होकर भोगना पडता है, परन्तु जाने हुए के अनादर से सेवा को त्याग मानव सुख-लोलुपता में आवद्ध हो जाता है जो दु.ख का मूल है। अतः मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का निर्ममता, निष्कामतापूर्वक विश्व-सेवा में व्यय करना अनिवार्य है, कारण, कि शरीर आदि वस्तुओं की विश्व से जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुओ का उपयोग एकमात्र पर-सेवा मे है। जब मानव मानव-दर्शन को अपनाता है तव स्वार्थ भाव पर-सेवा में विलीन हो जाता है और फिर यह भूल नही रहती कि वह किया जो नही करना था अपितु वही किया जो करना चाहिये। अर्थात् अकर्तव्य को त्याग कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होने पर मानव करने के राग से रहित हो जाता है और स्वत. सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है। इस दृष्टि से जो नही करना चाहिये उसके न करने में ही जो करना चाहिये वह निहित है। कर्त्तव्य की स्मृति तथा कर्त्तव्यपरायणता जाने हुए के आदर में ही निहित है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन मानवमात्र के लिए हितकर है अर्थात् जाने हुए के अनुरूप प्रवृत्ति ही सहज निवृत्ति की जननी है। सहज-निवृत्ति मानव को योग से अभिन्न कर देती है। कर्तव्यपरायणता की परावधि कर्त्ता को योग से अभिन्न करती है। योग का सपादन होने पर पराधीनता स्वाधीनता में विलीन होती है। पराधीनता का सर्वांश में अन्त होने पर स्वतः चिन्मय नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है।

जिसके सम्बन्ध में कुछ नही जानते हैं उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा नही होती और पूरी जानकारी होने पर भी जिज्ञासा नही होती। जिज्ञासा सदैव अधूरी जानकारी में होती है। अधूरी जानकारी अल्प-ज्ञान है और उसी को अज्ञान कहते है अर्थात् करण सापेक्ष अनुभूति अल्प-ज्ञान है अथवा यों कहो कि देखे हुए को ज्ञान मानना अल्प-ज्ञान

है। जगत् की प्रतीति और अपनेपन का भास प्रत्येक मानव मे स्वभाव से है। किन्तु जगत् की जैसी प्रतीति है क्या वही जगत् की वास्तविकता है ? यदि है तो अल्प-ज्ञान कैसा ? यदि नही है तो उसे अज्ञान के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ? उसी अज्ञान से जिज्ञासा जाग्रत होती है। अधूरे ज्ञान को ज्ञान मान लेने से जिसके सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है उसी की कामना होती है। कामना रहते हुए इच्छित वस्तु की वास्तविकता का अनुभव नही होता। अत. प्रतीति की वास्तविकता अनुभव करने के लिए उससे असग होना अनिवार्य है जो एकमात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है। प्रतीति से असंग होने पर प्रतीति के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध नही होता और प्रतीति का सग करने से प्रतीति अपने पर शासन करने लगती है अर्थात् प्रतीति के प्रभाव से मानव प्रभावित हो पराधीनता से आवद्ध हो जाता है। प्रतीति के आकर्षण ने ही पराधीनता, परिच्छिन्नता आदि विकारां में आबद्ध किया है। प्रतीति का आकर्षण उसी समय तक जीवित रहता है जिस समय तक मानव प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव नही करता। प्रतीति जिन करणो की अपेक्षा रखती है वे करण भी प्रतीति के अन्तर्गत ही है। अत प्रतीति के द्वारा प्रतीति की वास्तविकता का बोध सम्भव नहीं है। इस कारण इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि के द्वारा प्रतीति की वास्तविकता का ज्ञान सम्भव नही है। इस कारण देखना ज्ञान नही है। ज्ञान किसी करण की अपेक्षा नही रखता। करण की अपेक्षा तो देखने के लिए होती है जो एकमात्र ममता तथा कामना के रहते हुए ही रहती है। यह सभी को विदित है कि कामना की पूर्ति और अपूर्ति दोनो ही अवस्थायें पराधीनता तथा अभाव मे आवद्ध रखती है। इस अनुभव का आदर करते ही निष्कामता स्वभाव से ही प्रिय हो जाती है। निष्कामता को अपना लेने पर किसी भी करण की अपेक्षा नही रहती। अत. दोनों ही दृष्टियाँ निष्कामता की अभिव्यक्ति होने पर अपने मूल उद्गम में विलीन हो

जाती हैं और फिर प्रतीति की वास्तविकता का बोध कराने के लिए स्वत विचार का उदय होता है जो अविचार-जनित अल्प-ज्ञान का अन्त कर वास्तविकता से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव कर सकता है। प्रतीति की जिज्ञासा पूर्ति होने पर जिज्ञासु का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व नही रह जाता, कारण, कि जिज्ञासु जिज्ञासा होकर वास्तविकता से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से 'यह' के ज्ञान मे ही 'मैं' का ज्ञान है और 'मैं' के ज्ञान में ही 'यह' का ज्ञान है। 'यह' और 'मैं' की भिन्नता वास्तविक भिन्नता नही है अर्थात् जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता है। 'यह' की ममता तथा कामना ने ही 'मैं' को जीवित रखा है। ममता और कामना का अन्त होते ही 'यह' और 'मैं' दोनो ही 'है' मे विलीन होते है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जिसका स्वतत्र अस्तित्व है उसकी प्राप्ति है, प्रतीति नही। जिसकी प्रतीति है उसकी प्राप्ति नही। इस दृष्टि से प्रतीति का स्व-तत्र अस्तित्व नही है। जिसका स्वतत्र अस्तित्व नही है उसकी ममता, कामना तथा उससे तादात्म्य स्वीकार करना अभाव से भाव बुद्धि स्थापित करना है जो भ्रम-मूलक है अर्थात् 'नही' मे 'है' बुद्धि स्वीकार करना 'है' की विस्मृति और 'नही' की स्वीकृति को पोषित करना है। स्वीकृति मात्र से जिसकी प्रतीति होती है वह अस्वीकृति से नही रहती। अस्वीकृति मात्र से जिसकी निवृत्ति है, किसी भी प्रवृत्ति से उसकी प्राप्ति नही होती। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त मे प्रत्येक व्यक्ति असमर्थता तथा अभाव का ही अनुभव करता है, किन्तु प्रवृत्ति जनित सुखासक्ति बेचारे मानव मे कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व को उत्पन्न करती है। प्रवृत्ति-जनित आसक्ति ही प्रतीति का आकर्षण है। प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव प्रतीति के आकर्षण को नष्ट कर देता है। आकर्षण का नाश होते ही स्वतः सहज-निवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। सहज निवृत्ति स्वत मानव को असीम, अनन्त-नित्य सौन्दर्य से

अभिन्न करती है जो मानव की वास्तविक माँग है।

मानव-दर्शन मानव की वास्तविक माँग से निराश नही होने देता और न कामनाओ की आशा रहने देता है, अपितु निष्कामतापूर्वक वास्तविक माँग की पूर्ति करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को निज ज्ञान का आदर करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब देखे हुए के प्रति जिज्ञासा जाग्रत हो अर्थात् देखने और जानने का जो भेद है वह स्पष्ट विदित हो जाए।

देखा हुआ ज्ञान नही है वह तो किसी राग का परिणाम है। राग-रहित हुए बिना वास्तविकता का बोध नही होता। अतः राग-रहित होने के लिए ही प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव और निवृत्ति की महिमा में आस्था अत्यन्त आवश्यक है। ज्यो-ज्यो सहज निवृत्ति की महिमा सबल होती जाती है त्यो-त्यो प्रवृत्ति स्वत. निवृत्ति मे विलीन होती जाती है और ज्यो-ज्यो प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव होता जाता है त्यो-त्यो स्वतः सहज-निवृत्ति सबल तथा स्थायी होती जाती है। प्रवृत्ति का महत्त्व केवल पर-सेवा में है। कोई भी प्रवृत्ति अपने लिए उपयोगी नही है। सेवा अनेकता में एकता का बोध कराती है और सहज निवृत्ति 'एक ही अनेक हैं' इसका परिचय देती है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही साधन रूप है। निर्विकल्प अवस्था सामर्थ्य की जननी है और निर्विकल्प बोध दर्शन की पराकाष्ठा है। निर्विकल्प अवस्था सभी अवस्थाओ से श्रेष्ठ है; कारण, कि इसी अवस्था में दु.ख की निवृत्ति और शान्ति का प्रादुर्भाव होता है पर यह भी अवस्था होने से पर-प्रकाश्य है। इस कारण निर्विकल्प अवस्था सभी अवस्थाओं से उत्कृष्ट होने पर भी चिन्मय नही है। क्रियाशीलता, जड़ता, निरर्थक-चिन्तन, सार्थक-चिन्तन आदि अवस्थाओ से निर्विकल्प अवस्था श्रेष्ठ है। निर्विकल्प अवस्था का सम्पादन होने पर ही विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति तथा आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। अनावश्यक कार्य का त्याग

और फलासक्ति रहित आवश्यक कार्य की पूर्ति होने पर निर्विकल्प अवस्था स्वतः प्राप्त होती है। फलासक्ति के रहते हुए कर्तृत्व का अभिमान तथा करने का राग निवृत्त नही होता जिसके विना निवृत्त हुए निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति नही होती। इस कारण मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति फलासक्ति रहित होनी चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जव मानव अपने लक्ष्य से अपरिचित न रहे अपितु लक्ष्य के लिए ही समस्त चेष्टाएँ करे। जब अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही लक्ष्य में विलीन होती है तव प्रवृत्ति और निवृत्ति समान फलवती होती है। केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति का चित्र ही भिन्न होता है। वास्तविकता की दृष्टि से दोनो ही अवस्थाएँ है। अवस्थाओ का तादात्म्य परिच्छिन्नता को जीवित रखता है। इस कारण सभी अवस्थाओ से असग होना अनिवार्य है। निर्विकल्प अवस्था से असंग होने पर ही निर्विकल्प वोध होता है जो दर्शन की पराकाष्ठा है। निर्विकल्प वोध में सन्देह की उत्पत्ति नही होती कारण, कि निर्विकल्प बोध मे वास्तविकता से अभिन्नता हो जाती है। वोध रहता है बोध-वान नही। जब तक यह भासित होता है कि मैं वोधवान हूँ तव तक किसी न किसी अ श मे बोध से भिन्नता है। भिन्नता भेद को पुष्ट कर परिच्छिन्नता मे आबद्ध करती है। निर्विकल्प-वोध मे ही अगाध प्रियता का प्रादुर्भाव होता है और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही नही रहती। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और कुछ नही। प्रीति ही में प्रीतम का नित्य-वास है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सभी अवस्थाओ से अतीत, अभिमान-शून्य हो जाता है। निरभिमानता के बिना अहम् भाव रूपी अणु का अन्त नही होता जिसके बिना हुए नित-नव-प्रियता जाग्रत नही होती। प्रियता की जाग्रति में ही रस की अभिव्यक्ति है। रस की अभिव्यक्ति मे ही जीवन की पूर्णता है जो मानव की वास्तविक माँग है। रस और सुख में बड़ा भेद है। रस से अरुचि नही होती और न रस की क्षति,

निवृत्ति तथा पूर्ति ही होती है अपितु रस की नित-नव वृद्धि होती है। इस दृष्टि से रस अनन्त है। सुख के भोग मे मानव श्रमित हो असमर्थता, अभाव एव पराधीनता में आबद्ध होता है, पर रस की अभिव्यक्ति में श्रम, पराधीनता आदि की गध भी नहीं है। रस की भूख बढने पर ही सुखासक्ति का नाश होता है। सुखासक्ति का नाश होते ही रस की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। रस अनन्त का स्वभाव है और मानव की माँग है। रस की माँग से निराश होना घोर प्रमाद है। सुख की आशा करना भूल है। नित-नव रस की उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यही मानव के प्रयास की परावधि है। रस से मानव की जातीय तथा स्वरूप की एकता है और सुख से मानव की केवल मानी हुई एकता है, वास्तविक नही, कारण, कि सुख की उत्पत्ति दु ख तथा पराधीनता से ही होती है, जिसका मूल दुःख तथा पराधीनता है उससे जातीय एकता हो नही सकती। जिससे जातीय एकता नही है, उसकी आशा करना और जिससे जातीय एकता है उससे निराश होना, इससे बढकर और कोई भारी भूल नही है। भूल का अन्त करने के लिए ही किसी की अहैतुकी कृपा से मानव का निर्माण हुआ है। इस कारण सुख की आशा का त्याग तथा रस की उत्कट लालसा जाग्रत करने मे ही मानव के दायित्व की परावधि है। दायित्व पूरा किये विना माँग की पूर्ति सम्भव नही है। दायित्व पूरा करने मे असमर्थता तथा पराधीनता स्वीकार करना मानव का अपना वनाया हुआ दोष है। दायित्व पूरा करने की अभिरुचि तीव्र होने पर दायित्व पूरा करने में असमर्थता तथा पराधीनता नही रहती, कारण, कि वास्तविक प्रार्थना स्वत. पूरी हो जाती है। जिनकी अगाध करुणा से प्रार्थना पूरी होती है, वे सदैव अपने ही है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होने विचारपूर्वक ममता, कामना तथा तादात्म्य का अन्त कर दिया है।

प्रत्येक मानव को यह विदित ही है कि इन्द्रिय-जन्य तथा बुद्धि-जंन्य प्रतीति में सतत् परिवर्तन तथा गतिशीलता है। सतत् परिवर्तन

होने के कारण प्रतीति की स्थिति नही है। जिस प्रतीति की स्थिति ही नही है उस प्रतीति के अस्तित्व को प्रतीति के रूप में स्वीकार करना जाने हुए का अनादर है। निज-ज्ञान का अनादर करते ही प्रतीति में ममता उत्पन्न हो जाती है। ममता उत्पन्न होते ही कामनाओ की उत्पत्ति होती है। कामनापूर्ति अपूर्ति का सुख-दु.ख भोगते-भोगते प्रतीति से तादात्मय हो जाता है और फिर भोक्ता और भोग्य ये दोनो ही प्रतीति की अवस्थाये भासने लगती है किन्तु भोग के परिणाम का प्रभाव जब भोक्ता पर होता है तब वह अपने में भोक्ता-भाव का त्याग कर जिज्ञासु-भाव की स्थापना कर लेता है अर्थात् जो अपने को भोक्ता अनुभव करता था वह प्रतीति की वास्तविकता जानने के लिए आकुल हो जाता है। प्रतीति की जिज्ञासा प्रतीति की स्थिति की सत्यता को खा लेती है। प्रतीति की स्थिति अस्वीकार करते ही प्रतीति से दृष्टि हट जाती है और अपने उद्गम मे विलीन हो जाती है जिसके होते ही प्रतीति, प्रतीति के साधन और प्रतीति-कर्ता इन तीनों में एकता हो जाती है। यह एकता भी एक अवस्था ही है, वोध नही। इस अवस्था में विषमता नही रहती, अशान्ति नही रहती और न दु.ख ही शेष रहता है, परन्तु इस अवस्था का तादात्म्य भी बोध नही है। इस अवस्था में रमण न करने से अभिन्नता होती है। और फिर निर्विकल्प बोध स्वतः हो जाता है। निर्विकल्प बोध मे ही नित्य-जाग्रति है अर्थात् अवस्थान्तर का प्रभाव शेष नही रहता। अवस्थान्तर प्राकृतिक नियम के अनुसार सतत् होता रहता है, किन्तु उससे तादात्म्य नही रहता। तादात्म्य मिटते ही असीम, अनन्त, चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती हैं और फिर अह-भाव रूपी अणु स्वय गल जाता है जिसके गलते ही योग, बोध, प्रेम का प्रादुर्भाव होता है जो मानव की वास्तविक माँग है। योग, बोध और प्रेम विभूतियाँ हैं उस असीम अनन्त नित्य-चिन्मय तत्व की। समस्त विश्व स्वभाव से ही उसकी ओर गतिशील है।

मानव की अभिन्नता योग, बोध, प्रेम से होती है। योग, बोध, प्रेम जिसकी विभूतियाँ है वह तो स्वतः सिद्ध है। उसमें आस्था की जाती है, उसकी प्राप्ति होती है किन्तु उसका वर्णन सम्भव नही है।

भूल-जनित आसक्ति आदि दोषो की उत्पत्ति एकमात्र निज ज्ञान के अनादर मे ही निहित है। मानव-दर्शन अर्थात् मानव का अपना अनुभव भूल रहित होने की प्रेरणा देता है। भूल को भूल जानते ही भूल मिट जाती है। जिसके मिटते ही भूल-जनित दोष सदा के लिए नाश हो जाते है और फिर अपने आप योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। योग सामर्थ्य का, बोध चिन्मयता का तथा प्रेम रस का प्रतीक है। अतः योग, बोध, और प्रेम की अभि-व्यक्ति में ही असमर्थता, जडता एव नीरसता का अन्त निहित है। असमर्थता, जडता तथा नीरसता किसी भी मानव को स्वभाव से रुचिकर तथा अभीष्ट नही है, जो रुचिकर नही है उसका त्याग और जो अभीष्ट नही है उससे असगता स्वत. हो जाती है। त्याग से परम-शान्ति और असगता से चिन्मयता और नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है जो मानवमात्र को स्वभाव से प्रिय है।

प्रियता जिसमें जाग्रत होती है उसे अपने से अभिन्न कर लेती है और जिसके प्रति होती है उसे रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रेम और प्रेमास्पद मे किसी प्रकार की दूरी, भेद तथा भिन्नता नही है। भिन्नता के रहते हुए प्रियता जाग्रत ही नही होती। अतः प्रियता अभिन्नता से ही साध्य है। वास्तविकता के बोध में भी अभिन्नता ही हेतु है; कारण, कि सत् से अभिन्न होने पर ही सत् का बोध होता है। असत् से असग होने पर असत् की निवृत्ति होती है। असत् का तादात्म्य ही असत् को जीवित रखता है और सत् की अभिन्नता ही सत् के बोध में हेतु है। असत् की असगता ही सत् की अभिन्नता में परिणत होती है।

किसी प्रकार की दूरी रहने पर नित्य-योग की अभिव्यक्ति नही

होती। दूरी रहते हुए तो सयोग तथा भोग ही सम्भव है। यह सभी को विदित है कि सयोग वियोग में बदल जाता है और भोग का परिणाम रोग तथा शोक ही है। भोग के परिणाम का प्रभाव भोग-जनित सुख-लोलुपता को नष्ट कर देता है जिसके नाश होते ही भोग की रुचि योग की लालसा में परिणत हो जाती है। योग की उत्कट लालसा दूरी तथा भेद को खा लेती है। इस दृष्टि से नित्य-योग की अभिव्यक्ति भी अभिन्नता से ही साध्य है। अतः योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति भेद और भिन्नता के अन्त में ही निहित है। योग, बोध तथा प्रेम के रस में भले ही भेद हो पर इन तीनो मे स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से किसी भी एक की प्राप्ति मे तीनो ही की प्राप्ति होती है। परन्तु योग का अभिमान रहते हुए बोध नही होता और बोध का अभिमान रहते हुए प्रेम नही होता अर्थात् व्यक्तिगत सुख के लिए सम्पादित योग तथा वोध अगाध, अनन्त, नित-नव-प्रियता को जाग्रत नही होने देते। परन्तु जिसकी अहैतुकी कृपा से योग, बोध प्राप्त करने की सामर्थ्य मिली वह अपनी कृपा से आप मोहित हो, योग, बोध के अभिमान को नष्ट कर, अपनी अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता से अभिन्न कर देता है। भिन्नता के रहते हुए जो प्रियता है वह वास्तव मे प्रियता नही है; कारण, कि उस प्रियता में अपने अस्तित्व को बनाये रखने का प्रलोभन रहता है। प्रियता के आरम्भ में भले ही भिन्नता प्रतीत हो किन्तु ज्यो-ज्यो प्रियता सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों भिन्नता स्वत मिटती जाती है। भिन्नता मिटने पर भी प्रियता उत्तरोत्तर गाढ ही होती रहती है अर्थात् अनन्त की प्रियता भी अनन्त ही है।

योग में शान्त, बोध मे अखण्ड और प्रियता मे अनन्त रस है। शान्त और अखण्ड रस के आश्रित अहम्-भाव रूपी अणु जीवित रहता है। इसी कारण न तो मानव को शान्ति मे रमण करना है और न स्वाधीनता मे ही सन्तुष्ट रहना है किन्तु शान्ति तथा स्वाधीनता को

प्राप्त अवश्य करना है। शान्ति की अभिव्यक्ति निर्ममता तथा निष्कामता में निहित है और असगता से अखण्ड रस की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु जब असगता अभिन्नता में परिणत हो जाती है तब एकमात्र अगाध-प्रियता ही रह जाती है। अनन्त की प्रियता अनन्त के लिए रस-रूप है। भिन्नता के रहते हुए प्रीति अपने लिए रस-रूप है। भिन्नता का अन्त होने पर प्रियता प्रीतम के लिए रस-रूप है इस दृष्टि से मानव सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। यह मानव की महिमा उन्ही की देन है। अतः अपने में अपना कुछ न होने पर भी मानव सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव निज-ज्ञान का आदर करते हुए ममता, कामना तथा तादात्म्य से रहित हो जाय अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपरायणता, असगता एव आत्मीयता से युक्त हो जाय।

जाने हुए के प्रभाव मे ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है। कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असगता अपने लिए और आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता साधन है। साधन की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब मानव प्राप्त प्रकाश मे अपने जाने हुए असत् का त्याग करे। असत् के त्याग में असत् का ज्ञान ही हेतु है। भूल-जनित वेदना से जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जाग्रति असत् की कामना को नाश करती है। कामनाओ का अन्त होते ही असत् से असगता प्राप्त होती है जो असत् के ज्ञान मे हेतु है। असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति युग पद है। इस दृष्टि से सन्देह जनित वेदना में ही जिज्ञासा की जाग्रति तथा पूर्ति निहित है। सन्देह रहित हुए बिना चैन से रहना भूल है। सन्देह की निवृत्ति वर्तमान की वस्तु है, कारण, कि विचार से साध्य है। जिसकी प्राप्ति कर्म सापेक्ष होती है उसके लिए भविष्य की आशा हो सकती है। किन्तु जिसकी उपलब्धि विचारसाध्य है उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन मानव के

सर्वतोमुखी विकास में समर्थ है। अपने दर्शन का अनादर करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। अपने दर्शन के आदर मे ही जीवन है। इस दृष्टि से दर्शन बड़े ही महत्व की वस्तु है।

—: ० :—

२

असत् का विवेचन

असत् की अनुभूति-जनित वेदना सत् की जिज्ञासा जाग्रत करती है। ज्यों-ज्यो जिज्ञासा सवल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यो असत् का आकर्षण मिटता जाता है। ज्यों-ज्यों असत् का आकर्पण मिटता जाता है त्यो-त्यों सत् की खोज की अभिरुचि वढ़ती जाती है। इस दृष्टि स असत् की अनुभूति वड़े ही महत्व की वस्तु है। असत् को असत् जान लेने पर भी असत् का तादात्म्य उस समय तक जीवित रहता है जब तक मानव सत् की खोज को जीवन का सर्वोत्कृष्ट प्रथम प्रश्न नही बना लेता। सत् की खोज वर्त-मान की वस्तु है। उसके लिए किसी अभ्यास विशेष की अपेक्षा नहीं है अपितु असत् से असग होना ही सत् की खोज को सजीव बनाना है। असत् से असंग होने के लिए असत् का ज्ञान ही एक-मात्र उपाय है। असत् का ज्ञान प्राप्त प्रकाश से ही साध्य है। पर उस प्रकाश का आदर करने के लिए इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि के सम्वन्ध में यथेष्ट विचार करना होगा। प्रत्येक दृष्टि किसी न किसी प्रकाश के आश्रित रहती है। दृष्टि प्रकाश नही है। जो प्रकाश नही है उसका उपयोग कर सकते है किन्तु उसके प्रभाव से प्रभावित नहीं होना है। इन्द्रिय-दृष्टि का समुचित उपयोग करने पर भी मानव को उसके प्रभाव से मुक्त होना है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव असत् से तादात्म्य कर देता है। इस कारण उसके प्रभाव का अन्त करना अनिवार्य है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग करते हुए भी सत्य के जिज्ञासु को इन्द्रिय-

दृष्टि के प्रभाव से रहित होना है। वह तभी सम्भव होगा जब मानव आदरपूर्वक निज विवेक के प्रकाश से प्रकाशित बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव को अपनाये। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव स्वत. मिटता जाता है। सर्वांश में इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिट जाने पर बुद्धि-दृष्टि स्वतः सम हो जाती है फिर जिज्ञासा पूर्ति की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। इस कारण सत्य की खोज करने के लिए प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है।

असत् के ज्ञान मे ही असत् की निवृत्ति तथा सत् की प्राप्ति निहित है, पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते है जिन्होने असत् का अनुभव कर असत् से असगता प्राप्त की है। सत् की जिज्ञासा असत् से असग होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। इस दृष्टि से असत् की असगता ही सत् से अभिन्न करने में हेतु है।

असत् में असत् से असंग होने का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता और सत् मे सत् से अभिन्न होने की माॅग नही होती। असत् से असग और सत् से अभिन्न होने की माँग न तो असत् में है और न सत् में, अपितु जिसने असत् से तादात्म्य स्वीकार किया है उसी में असत् से असग और सत् से अभिन्न होने की माॅग है। जिसमें यह माॅग है वह स्वयं न असत् है और न सत्; कारण, कि असत् में असत् की ममता और सत् में सत् की जिज्ञासा नही होती। जिसमें असत् की ममता और सत् की जिज्ञासा है वह असत् और सत् दोनों से ही विलक्षण है और वही मानव है। इस दृष्टि से मानव स्वयं न जड़ तत्त्व है और न चेतन, पर वह अपने को जिससे मिला लेता है उसी के स्वभाव को अपने में आरोप कर लेता है। असत् से तद्रूप होने पर भी सत् की जिज्ञासा नाश नही होती। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव की असत् से जातीय एकता नही है। जिससे जातीय एकता नही है उससे असंग होना सहज तथा स्वाभाविक है। इस दृष्टि से असत् से

असग न होने के समान और कोई भारी भूल नही है। असत् से जातीय एकता नही है, यह मानवमात्र का अपना अनुभव है। अपने अनुभव का आदर न करना अपने विनाश का मूल है। निज अनुभव का आदर करते ही निर्ममता तथा निष्कामता स्वतः आ जायगी और फिर निर्विकारता तथा परम-शान्ति के साम्राज्य मे स्वत' प्रवेश होगा जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

प्रतीति की ममता और उसका तादात्म्य असत् का आकर्षण उत्पन्न करता है और असत् के आकर्षण से ही भिन्न भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का जन्म होता है। यद्यपि प्रवृत्तियों के परिणाम मे असमर्थता और अभाव के अतिरिक्त किसी भी मानव को कुछ नही प्राप्त होता परन्तु मानव अपने इस अनुभव का आदर नही करता। इतना ही नही प्रत्येक प्रवृत्ति प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः निवृत्ति में विलीन होती है किन्तु प्रवृत्ति-जनित-आसक्ति निवृत्ति में प्रवृत्ति की रुचि उत्पन्न कर देती है। अनेक बार असमर्थता एव अभाव से पीड़ित होने पर भी मानव सहज निवृत्ति को सुरक्षित रखने का अथक प्रयास नही करता। उसका परिणाम यह होता है कि प्रवृत्ति काल मे भी पराधीनता और असमर्थता काल में भी पराधीनता से पीड़ित होता है। पराधीनता की पीड़ा जव असह्य होने लगती है तब प्रवृत्ति की रुचि नाश हो जाती है। जिसके नाश होते ही अपने आप आने वाली निवृत्ति सुरक्षित होने लगती है। ज्यो ज्यो निवृत्ति स्थायी होने लगती है त्यों त्यों स्वाधीनता की ओर अग्रसर होने की सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार असत् के आकर्षण से अनेक प्रवृत्तियाँ पोषित होती है उसी प्रकार निवृत्ति में सत्य की जिज्ञासा से प्रेरित होकर मानव की प्रगति स्वाधीनता के साम्राज्य में होती है। इस दृष्टि से निवृत्ति के सुरक्षित होने मात्र से ही असत् की असंगता और सत् की प्राप्ति होती है। आवश्यक सकल्पों की पूर्ति में ही प्रवृत्ति का उपयोग है। संकल्प-पूर्ति मात्र से किसी को स्वाधीनता

नही मिलती । इस कारण सकल्प-पूर्ति और अपूर्ति दोनों ही परिस्थितियो का उपयोग एकमात्र संकल्प-निवृत्ति में ही है। इस मंगलमय विधान का आदर करने पर सुखी और दुखी दोनों ही बडी ही सुगमतापूर्वक जाने हुए असत् से असंग हो सकते है। असत् की अनुभूति के आदर मे ही असत् से असंग और सत् से अभिन्न होने की सामर्थ्य निहित है। असत् की अनुभूति असत् से तादात्म्य नही रहने देती अपितु सत् की उत्कट जिज्ञासा जाग्रत करती है। असत् का तादात्म्य एकमात्र असत् की अनुभूति न होने में ही है।

असत् से तादात्म्य होने पर भी वीजरूप से सत् की जिज्ञासा मानवमात्र में विद्यमान रहती है। यदि ऐसा न होता तो असत् की अनुभूति का प्रश्न ही उत्पन्न न होता और असत् की अनुभूति बिना हुए सत् की खोज ही उत्पन्न न होती। इस कारण बीज रूप से विद्यमान सत् की जिज्ञासा को जाग्रत करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा जव मानव अपनी वास्तविक माँग से निराश न हो अपितु उसकी वास्तविक माँग की पूर्ति की उत्कण्ठा उत्तरोत्तर वढ़ती रहे, यही सुगम उपाय है असत् की अनुभूति तथा असत् से असग होने का। असत् की अनुभूति जिसे होती है वही सत् का जिज्ञासु है। सत् के जिज्ञासु में असत् का। आकर्षण शेष नही रहता परन्तु जब तक सर्वांश में सत् की जिज्ञासा जाग्रत नही होती तब तक अंश रूप से असत् का आकर्षण और सत् की जिज्ञासा दोनों ही किसी एक में ही विद्यमान रहते हैं। बस यही मानव का अस्तित्त्व है। असत् के आकर्षण का नाश करने का दायित्त्व मानव पर है। मंगलमय विधान से दायित्व को पूरा करने की सामर्थ्य प्रत्येक मानव को स्वत: प्राप्त है। परन्तु जब मानव प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नही करता तब अपने को दायित्व पूरा करने में असमर्थ पाता है। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व को पूरा करने में ही माँग की पूर्ति निहित है।

दायित्व पूरा करने में शिथिलता क्यों ? असावधानी क्यों ? इस

सम्वन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जो माँग वर्तमान में पूरी हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा करते है। उसका परिणाम यह होता है कि माँग शिथिल हो जाती है। वास्तविक मॉग की शिथिलता असत् के आकर्षण को पोपित करती रहती है। असत् का आकर्षक जितना मधुर प्रतीत होता है, उतनी मधुरता असत् की ओर गतिशील होने में नही है। प्रवृत्ति की रुचि जितनी आकर्पक है उतनी प्रवृत्ति नही। इतना ही नही, प्रवृत्ति का आरम्भ होते ही शनैः शनैः प्रवृत्ति की मुधरता मिटती जाती है और असमर्थता में मानव आवद्ध होता जाता है। असमर्थता तथा अभाव की असह्य वेदना असत् के आकर्षण का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से असह्य वेदना ही विकास की भूमि है। मानव अपने अनुभव का अनादर कर उस वेदना को तीव्र नही होने देता और प्रवृत्तिजनित सुख-लोलुपता से वास्तविक मॉग को शिथिल करता रहता है। प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता से देहाभिमान पुष्ट होता है जिसके होने से मानव असत् से तद्रूप हो जाता है और सत् की जिज्ञासा शिथिल हो जाती है। ऐसी दशा में मानव दायित्व पूरा करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। यह असमर्थता प्राकृतिक नही है अपितु मानव की भूल से उत्पन्न हुई है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि दायित्व पूरा करने में मानव अपनी भूल से ही अपने को असमर्थ वनाता है और वास्तविक माँग की पूर्ति से निराश होने लगता है। जिससे निराश नही होना चाहिये उससे निराश होने पर उन आशाओं का जन्म हो जाता है जिनसे निराश होना अनिवार्य है। अव विचार यह करना है कि किन किन आशाओं से निराश होना अनिवार्य है ? जो आशाये मानव को पराधीनता में आवद्ध करती है उनका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा जव वास्तविक मॉग की उत्कट लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। वास्तविक माँग वही है जिसकी पूर्ति स्वाधीनता पूर्वक हो सकती है। स्वाधीनता

की प्राप्ति भी स्वाधीनता पूर्वक ही होती है। यदि मानव उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त करदे जो पराधीनता से सम्पादित होती हैं तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस उपाय की प्राप्ति हो जाती है जिससे मानव स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है।

स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता प्राप्त करने में जो असमर्थता तथा पराधीनता भासित होती है वह वास्तव में असत् के आकर्षण का ही परिणाम है। असत् का आकर्षण असत् से तद्रूप होने पर ही होता है। असत् का तादात्म्य सत् की उत्कट लालसा से ही मिट सकता है, जिसके मिटते ही असत् का आकर्षण शेष नही रहता। असत् के आकर्षण का नाश और सत् मे आत्मीयता युग-पद होते हैं। यह सभी को विदित है कि आत्मीयता प्रियता की जननी है। सत् की प्रियता असत् की आसक्ति को खाकर मानव को सत् से अभिन्न करती है। सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नही। सत् की प्रियता ही एकमात्र असत् की नाशक है जो सत् की आत्मीयता से ही साध्य है। जिसमें असत् का आकर्षण अकित रहता है उसी में सत् की प्रियता जाग्रत होती है और असत् के आकर्षण का विनाश कर मानव को सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से सत् से आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है। जिसका आकर्षण पराधीनता में आबद्ध करता है वही वास्तव में असत् है, कारण, कि पराधीनता किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नही है किन्तु पराधीनता-जनित-सुख की प्रतीति सुख के प्रलोभन की पुष्टि कर मानव को सुख की दासता में और दु ख के भय में आबद्ध कर देती है। यद्यपि सुख स्वभाव से प्रिय प्रतीत होता है परन्तु उसका स्थायी न रहना मानव में सुख की दासता से रहित होने की प्रेरणा देता हैं। इस कारण पराधीनता-जनित-सुख का मानव-जीवन में कोई विशेष स्थान नही है। स्वाभाविक मॉग स्वाधीनता-जनित अविचल, असीम रस की है। इस मॉग की पूर्ति एक-मात्र असत् से असग होने मे ही निहित है जो असत् को असत् अनुभव करने

से ही साध्य है।

कैसा अनुपम मंगलमय विधान है कि पराधीनताजनित सुखलोलुपता का नाश करने के लिए स्वभाव से ही पराधीनता-जनित-सुख चाहते हुए भी नहीं रहता। पराधीनता-जनित-सुख की कामना के कारण ही मानव में पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है। बस यही असत् का संग है। असत् के संग से ही जीवन में अनेकों दोष उत्पन्न होते हैं। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार दोष उत्पन्न होने पर भी निर्दोषता की माँग रहती है। निर्दोषता की माँग मे ही निर्दोषता का अस्तित्व सिद्ध है। यदि उसका अस्तित्व न होता तो उसकी माँग ही न होती। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्दोषता को प्राप्त किए बिना ही उसके अस्तित्व को स्वीकार कर उसके गीत गाएँ। 'दोष-युक्त जीवन नहीं चाहिए' यह मानव की वास्तविक माँग है। जिसे प्राप्त करना है उसका प्रलोभन भी कुछ अर्थ नहीं रखता। और जिसको नाश करना है उसका प्रलोभन भी कुछ अर्थ नहीं रखता। इस दृष्टि से प्रलोभन रहित होना अनिवार्य है। प्रलोभन के आश्रय से ही वह जीवित रहता है जो न असत् है और न सत्।

असत् और सत् से रहित वही है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता वह असत् से मिलकर असत् और सत् से मिलकर सत् जैसा प्रतीत होता है। यह प्रतीति ही असत् और सत् के अस्तित्व को भासित कराती है। यद्यपि मानव को असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति अभीष्ट है, परन्तु असत् और सत् का भास असत् की ममता और सत् की जिज्ञासा को जीवित रखता है। सत् असत् का प्रकाश है। असत् सत् के प्रकाश से ही भासित है। असत् की ममता से सत् की माँग शिथिल हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो वास्तव में सर्वकाल में नहीं है उसका भी अस्तित्व मानव मे अंकित हो जाता है जिसके होते ही मानव स्वाधीनता से विमुख हो पराधीनता में ही जीवन मान लेता है जो वास्तव में भूल है।

असत् के अस्तित्व की स्वीकृति ही असत् को जीवित रखती है। सत् की तीव्र जिज्ञासा असत् के अस्तित्व की स्वीकृति का नाश करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सत् की जिज्ञासा बडे ही महत्व की वस्तु है। असत् की ममता के समान और कोई जडता नही है और सत् की जिज्ञासा के तुल्य और कोई सजगता नही है। ज्यो-ज्यों सजगता सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यों जडता स्वत मिटती जाती है। इस दृष्टि से सजगता बड़े ही महत्व की वस्तु है जो एकमात्र सत् की तीव्र जिज्ञासा से ही साध्य है। सत् की जिज्ञासा असत् के तादात्म्य को नष्ट कर मानव को सत् से अभिन्न कर देती है, इस कारण असत् की अनुभूति तथा सत् की खोज मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। असत् की अनुभूति के बिना सत् की खोज उदित नही होती और सत् की खोज बिना किए असत् की निवृत्ति नही होती। असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति उसी प्रकार युग पद है जिस प्रकार सूर्य का उदय, अधकार की निवृत्ति एव प्रकाश की प्राप्ति।

शरीर मे अहम् तथा मम बुद्धि स्वीकार करना प्राप्त विवेक के विरुद्ध है। जो स्वीकृति विवेक विरोधी है वह असत् है। असत् को असत् जान लेने पर भी यदि उसका त्याग नही किया जाय तो असत् के सग से अनेक विकार स्वत उत्पन्न होते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार विकार-युक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नही है। जिसकी मॉग व्यक्ति तथा समाज को नही है उसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नही है। इस कारण असत् की अनुभूति का सदुपयोग एकमात्र असत् के त्याग में ही है। असत् का त्याग मानव अपने द्वारा कर सकता है, कारण, कि स्वीकृति का अस्वीकृति-पूर्वक अन्त करना प्रत्येक मानव के लिए सहज तथा स्वाभाविक है। अपनी स्वीकृति ही अपने को पराधीन बनाती है। असत् मे स्वय पराधीन बनाने की सामर्थ्य नही है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि पराधीनता एकमात्र अपने में अपनी असावधानी से ही उत्पन्न हुई है। पराधीन होने की वेदना में

स्वाधीनता की माँग स्वत. उदित होती है। पराधीनता उसी समय तक जीवित है जव तक मानव उसे स्वीकार करता है। यद्यपि स्वभाव से पराधीनता प्रिय नही है परन्तु प्रमाद-वश मानव पराधीनता में ही स्वाधीनता का आरोप कर लेता है। यह सभी को मान्य होगा कि कामनाओं का उद्‌गम अविवेक सिद्ध है और कामना-पूर्ति में किसी न किसी रूप से पराधीनता में ही आवद्ध होना होता है किन्तु प्रमादवश मानव कामना-पूर्ति मे स्वाधीनता आरोप कर लेता है। यह कैसी विडम्वना है कि यद्यपि कामना-पूर्ति मे घोर पराधीनता है परन्तु स्वाधीनता जैसी भासित होती है। यह असत् के संग का ही परिणाम है। कामना-अपूर्ति-काल में तो पराधीनता की अनुभूति पराधीनता के रूप में ही होती है पर कामनापूर्ति काल मे पराधीनता स्वाधीनता के रूप मे प्रतीत होने लगती है। जव पराधीनता पराधीनता के रूप में प्रतीत होती है, तव उससे रहित होना वहुत ही सहज है किन्तु जो पराधीनता स्वाधीनता के रूप मे प्रतीत होती है उसका अन्त करना दुर्लभ हो जाता है। पर इसका अर्थ यह नही है कि पराधीनता पराधीनता नही है। कामनापूर्ति-अपूर्ति दोनों ही अवस्थाओं में पराधीनता ज्यो की त्यों विद्यमान है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते है जिन्होने असत् की अनुभूति होने पर सत् की खोज की है। असत् को असत् जानकर ही सन्तुष्ट हो जाना और सत् की खोज न करना असत् की अनुभूति का दुरुपयोग है। जिस प्रकाश में असत् की अनुभूति होती है, वह प्रकाश भले ही सत् है, और असत् को प्रकाशित करता है किन्तु सत् की खोज के विना असत् का नाश नहीं होता। सत् असत् को प्रकाशित करता है। इस दृष्टि से असत् की अनुभूति होते ही सत् की खोज के लिए अथक प्रयत्नशील होना अनिवार्य है। सत् की खोज मात्र से असत् का तादात्म्य नष्ट हो जाता है। जिसके होते ही असत् से असगता स्वत. हो जाती है। असत् की असगता में ही सत् से अभिन्नता होती है। इस कारण प्रत्येक मानव

को सावधानी पूर्वक अपनी अनुभूति का सतत् सदुपयोग करते रहना अनिवार्य है ।

सत् की खोज तभी सम्भव है जब असत् का संग असह्य हो जाय और सत् की प्रियता सतत् जाग्रत रहे । प्राकृतिक नियमानुसार प्रियता समस्त आसक्तियो को नाश करने में समर्थ है । अतः सत् की प्रियता में ही असत् की आसक्तियो का नाश निहित है । आसक्ति मानव को पराधीनता में आबद्ध करती है और प्रियता स्वाधीनता से अभिन्न करती है । इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र सत् की प्रियता से असत् की आसक्ति का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है । आसक्ति सदैव असत् में ही होती है और प्रियता सदैव उसी में होती है जो अविनाशी है अर्थात् जिससे देश-काल की दूरी नही है अपितु जो सर्वत्र ज्यो का त्यो सदैव विद्यमान है । जो मौजूद अर्थात् नित्य प्राप्त है, वह ही सत् है और उसी की मॉग है । जिसकी प्रतीति हो और प्राप्ति न हो वही असत् है । उसकी ममता, कामना तथा उससे तादात्म्य स्वीकार करना सत् से विमुख हो असत् का सग करना है, जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नही है ।

असत् की निन्दा करना और उसकी चर्चा करना, उससे सम्बन्ध जोड़ना है । असत् के सम्बन्ध से ही समस्त दोषो की उत्पत्ति होती है । इस कारण असत् को असत् जानकर उससे विमुख होना है । असत् की विमुखता स्वत. सत् का सग करा देती है । सत् के सग से सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है । इस दृष्टि से असत् की निन्दा नही करना है, अपितु असत् को असत् जानकर उससे विमुख होना है । असत् से विमुख होने के लिए असत् की कामना का त्याग अनिवार्य है जो एकमात्र सत् की प्रियता से ही साध्य है । स्वाधीनता का पुजारी सत् की प्रियता के बिना किसी प्रकार भी रह नही सकता । सत् की प्रियता उन्ही प्राणियो को नही भाती जो पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करते है । यद्यपि पराधीनता के समान और कोई बन्धन नही है परन्तु पराधीनता-जनित सुखलोलुपता पराधीनता की पीड़ा

को तीव्र नही होने देती। पराधीनता की पीडा से ही स्वाधीनता की मॉग जाग्रत होती है। इस दृष्टि से पराधीनता की पीडा विकास का मूल है। पराधीनता को बनाए रखना और स्वाधीनता से निराश होना मानव-जीवन का घोर अपमान है। मानव-दर्शन की दृष्टि से पराधीनता का अन्त तथा स्वाधीनता की प्राप्ति ही मानव की वास्तविक मॉग है। पराधीनता प्रत्येक प्राणी को जडता तथा अभाव मे आबद्ध करती है जो किसी भी मानव को कभी भी अभीष्ट नही है। यद्यपि सर्व प्रथम अनुभूति पराधीनता की ही होती है किन्तु बीज रूप से स्वाधीनता की मॉग भी विद्यमान रहती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जव पराधीनता-जनित-पीडा स्वाधीनता की उत्कट-लालसा जाग्रत कर देती है। स्वाधीनता से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नही है। सर्वतोमुखी विकास स्वाधीनता के साम्राज्य में ही है। स्वाधीनता के बिना न तो सर्व दुःखो की निवृत्ति ही होती है और न परिच्छिन्नता का ही नाश होता है। इतना ही नही प्रीति की जाग्रति भी एकमात्र स्वाधीनता से ही साध्य है। इस दृष्टि से स्वाधीनता बड़े ही महत्व की वस्तु है। स्वाधीनता की प्राप्ति किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के आश्रित नही है और न किसी प्रकार के श्रम से ही साध्य है। इसी कारण मानवमात्र स्वाधीनता प्राप्त करने में सर्वदा स्वाधीन है। अत: स्वाधीनता की तीव्र लालसा जाग्रत करना अनिवार्य है। इतना ही नही स्वाधीनता की मॉग स्वाधीनता से अभिन्न करने में समर्थ है। कितने आश्चर्य की बात है कि जिसकी उपलब्धि मॉग मात्र से ही सम्भव है उससे मानव निराश हो जाता है, पराधीनता में आबद्ध रहता है और अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश कर बैठता है। स्वाधीनता की मॉग असत् की ममता तथा कामना एवं तादात्म्य का अन्त करने में समर्थ है। स्वाधीनता की मॉग असत् की अनुभूति, सत् की खोज तथा सत् की प्राप्ति मे हेतु है।

अचाह, अप्रयत्न और अभिन्नता आदि दिव्य गुण स्वाधीनता के पुजारी में स्वत अभिव्यक्त होते हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते है जिन्होंने सहज भाव से अपनी वास्तविक माँग का अनुभव किया है। वास्तविक माँग प्रत्येक मानव में विद्यमान है। असत् के तादात्म्य से उत्पन्न हुई कामनाओ से वास्तविक माँग ढक जाती है, मिटती नहीं। पराधीनता जनित पीडा कामनाओ का अन्त कर वास्तविक माँग को जाग्रत कर देती है जो विकास का मूल है।

— ० —

३

मैं का विवेचन

'मैं' का भास तथा 'यह' की प्रतीति मानव मात्र को स्वभाव से होती है, पर उसका अर्थ यह नही है कि भास मात्र से ही 'मैं' की वास्तविकता का परिचय होता है। 'मैं' का भास होने पर भी 'मैं' क्या है ? यह प्रश्न स्वत. उत्पन्न होता है। अपने सम्वन्ध मे दूसरों के द्वारा जो कुछ सुना है वह 'मैं' की वास्तविकता का परिचय नही है। ऐसी दशा मे अपने सम्वन्ध में अपना क्या निर्णय है, इसका स्पष्टीकरण करना अनिवार्य है। जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति तीनो ही अवस्थाओं में 'मैं' का भास है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' कोई ऐसी वस्तु है जो अवस्थाओ से विलक्षण है। अवस्थाओं की प्रतीति है और 'मैं' का भास है। अवस्थाओं से तादात्म्य रखते हुए 'मैं' का वोध सम्भव नही हैं। अवस्थाओ से असग होने पर ही 'मैं' का वास्तविक परिचय सम्भव है। जाग्रत और स्वप्न के सम्वन्ध से मानव अपने को सुखी और दुखी अनुभव करता है। इससे यह विदित होता है कि सुख दु ख का भोग दृश्य के सम्वन्ध से सिद्ध होता है। सुपुप्ति मे सुख दु ख का भास नही है। इससे यह मानना ही पड़ता है कि प्रतीति अर्थात् दृश्य से असग होने पर ही 'मैं' की वास्तविकता का अनुभव हो सकता है अर्थात् जव तक जाग्रत मे सुपुप्तिवत् न हो जायें तव तक 'मैं' के सम्वन्ध में कुछ भी अनुभव सम्भव नही है। जाग्रत में सुपुप्तिवत् होने के लिए क्रियाशीलता तथा चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब जिज्ञासा-पूर्ति के लिए वर्तमान कर्त्तव्यकर्म विधि-

वत, फलासक्ति रहित पूरा कर दिया जाय। ऐसा करने से आवश्यक सकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक सकल्पों का त्याग करने की सामर्थ्य आ जायगी। आवश्यक सकल्प की पूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है और सकल्प-पूर्ति के सुख का भोग न करने पर नवीन राग की उत्पत्ति नही होती। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग उत्पन्न न हो तब मानव राग रहित होकर जाग्रत मे ही सुषुप्ति का अनुभव कर सकता है। जाग्रत-सुषुप्ति में जड़ता का दोष नही रहता और सुषुप्ति के समान दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है। जाग्रत में जब दृश्य से सम्बन्ध नही रहता तब स्वत. 'मैं' क्या हूँ, यह प्रश्न हल हो जाता है। 'मैं' का वर्णन किसी करण अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नही है, कारण, कि यह सब तो दृश्य ही हैं। दृश्य के सहयोग से उसका वर्णन नही हो सकता जिसको दृश्य की प्रतीति है। दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही अपने द्वारा अपना परिचय होता है। बस यही 'मैं' क्या हूँ' ? इस प्रश्न को हल करने का उपाय है।

'यह' करके जिसको सम्बोधन करते है उसे 'मैं' नही कह सकते। इस दृष्टि से कोई भी दृश्य 'मैं' नही है। 'वह' करके जिसमे आस्था करते है उसे भी 'मैं' कहना भूल है। 'यह' और 'वह' से विलक्षण 'मैं' हो सकता है। यह भी अनुमान मात्र है, अनुभव नही। अब विचार यह करना है कि 'यह' की ममता तथा उसकी जिज्ञासा क्या 'यह' मे हो सकती है ? कदापि नही। 'यह' की ममता तथा 'यह' की जिज्ञासा जिसमे है क्या उसे 'वह' कह सकते है ? नही। इस दृष्टि से 'यह' और 'वह' से रहित 'मैं' होना चाहिये। पर अब भी स्पष्ट बोध नही हुआ कि 'मैं' क्या है ? आस्था और बोध मे भेद है। आस्था मे बोध को आरोप करना ज्ञान नही है और बोध में आस्था करना आस्था नही है। आस्था उसमे होती है जिसका बोध नही है। अर्थात् सुने हुए मे आस्था होती है जाने हुए मे नही। जाने

हुए में न तो आस्था ही होती है और न सन्देह ही। सन्देह देखे हुए मे होता है, वोध जाने हुए का होता है और आस्था सुने हुए में होती है। 'मैं' देखा हुआ नही है और न जाना हुआ है। अतः 'मैं' के प्रति सन्देह भी नही होता और उसका वोध भी नही। 'मैं' किसी अन्य के द्वारा सुना भी नही है। उसका तो भास है। इस दृष्टि से किसी आस्था के आधार पर 'मैं' का निर्णय देना 'मैं' का वास्तविक परिचय नही है और प्रतीति का आश्रय लेकर 'मैं' का विवेचन करना 'मैं' का वोध नही है। 'मैं' के ही द्वारा 'मैं' की खोज करना 'मैं' के परिचय में हेतु है।

प्रतीत होने वाला 'यह' और सुना हुआ 'वह' इन दोनो का सम्वन्ध किस मे है ? जिसमे है क्या उसे 'मैं' नही कह सकते ? परन्तु ऐसा कहने से भी तो 'मैं' के कार्य का परिचय होता है, स्वरूप का नही। कार्य कर्त्ता का विशेषण भले ही हो, पर स्वरूप नहीं है। 'यह' की प्रतीति मे 'यह' का राग हेतु है और 'वह' की आस्था में 'वह' की माँग हेतु है। राग रहित होने पर 'यह' से असंगता स्वतः होती है, जिसके होते ही 'वह' से अभिन्नता भी होती है। जिसने राग-पूर्वक 'यह' से तादात्म्य स्वीकार किया था उसी ने असगतापूर्वक 'वह' से अभिन्नता प्राप्त की। 'यह' की आसक्ति और 'वह' की अनुरक्ति किसी एक ही मे है। क्या उसी का नाम 'मैं' है ? यदि यह मान लिया जाय तो आसक्ति की तो निवृत्ति होती है और अनुरक्ति की जाग्रति। आसक्ति रहते हुए अनुरक्ति जाग्रत नही होती और अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति नही रहती। आसक्ति के रहते हुए अनुरक्ति की माँग भले ही रहे पर अनुरक्ति जाग्रत नही होती। अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति का लेश भी नही रहता अर्थात् आसक्ति के अभाव मे ही अनु-रक्ति की जाग्रति है। क्या अनुरक्ति आसक्ति के समान नाशवान है ? क्या अनुरक्ति में भी आसक्ति के समान पराधीनता, जड़ता तथा अभाव है ? कदापि नही। अनुरक्ति अविनाशी है और जडता, पराधी-

नता, अभाव से रहित है। आसक्ति का परिणाम किसी भी मानव को अभीष्ट नही है। इस कारण आसक्ति के नाश का प्रश्न मानव-मात्र में है। आसक्ति का मूल दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार कर उसमें सत्यता तथा सुन्दरता का आरोप करना है। दृश्य में सत्यता तथा सुन्दरता का आरोप करना अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय होते ही दृश्य में सत्यता तथा सुन्दरता शेष नही रहती और फिर आसक्ति विरक्ति के रूप में परिणत हो जाती है।

आसक्ति दृश्य की रुचि को जीवित रखती है और विरक्ति दृश्य से अरुचि उत्पन्न करती है। अरुचि रुचि को खाकर स्वत. अनुरक्ति से अभिन्न कर देती है। रुचि और अरुचि द्वन्द्वात्मक स्थिति है। जिस प्रकार अग्नि काष्ट को भस्मी-भूत कर स्वतः शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विरक्ति आसक्ति का अत्यन्त अभाव कर स्वय अनुरक्ति से अभिन्न हो जाती है। अनुरक्ति द्वन्द्वात्मक नही है। द्वन्द्वात्मक स्थिति ही सीमित अहम् भाव को जीवित रखती है जिसके रहते हुए यह समस्या हल नही होती कि 'मैं' क्या है ? अनुरक्ति के प्रादुर्भाव मे ही द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश है, जिसके होते ही 'मैं' क्या है, यह प्रश्न स्वत· हल हो जाता है। 'यह' से परे 'मैं' है, यह 'मैं' का परिचय नही है। 'मैं' के प्रति इतना मोह हो गया है कि उसको अस्वीकार करना बडा ही भय उत्पन्न करता है। इस भय से बचने के लिए मानव यह स्वीकार कर लेता है कि मैं शरीर आदि दृश्य से अतीत हूँ। किसी की वास्तविकता का बोध तभी सम्भव होगा जब उसके प्रति लेश-मात्र भी राग तथा द्वेष न हो। 'मैं' के न होने की बात सुनकर जो भय उत्पन्न होता है, यह 'मैं' का राग है और इस प्रश्न को हल किये विना चैन से रहना 'मैं' के प्रति द्वेष है। राग और द्वेष दोनो ही सम्बन्ध पुष्ट करते है। सम्बन्ध के रहते हुए बोध सम्भव नही है कारण, कि सम्बन्ध स्वय अस्तित्व के रूप मे भासित होने लगता है। इसी कारण 'यह' के सम्बन्ध से 'मैं' 'यह' जैसा प्रतीत

होता है और 'मैं' अपने में 'यह' को आसक्ति अनुभव करता है और 'वह' से सम्बन्ध स्वीकार करने पर 'मैं', 'वह' जैसा तथा 'वह' की अनुरक्ति अनुभव करता है। 'यह' और 'वह' दोनों में यदि एकता स्वीकार की जाय तो दो स्वतंत्र अस्तित्व नही हो सकते। 'यह' के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय तो स्वीकृति के कारण 'यह' की प्रतीति भले ही हो पर उसकी प्राप्ति नही होती। जिसकी प्राप्ति नही होती उसका न तो स्वतंत्र अस्तित्व ही होता है और न वह अपने को अपने आप प्रकाशित ही करता है। इस दृष्टि से 'यह' के अस्तित्व को स्वीकार करना 'यह' की आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही है। आसक्ति जीवन नही है अपितु पराधीनता, जड़ता तथा अभाव की जननी है जो किसी भी मानव को अभीष्ट नही है। अतः 'यह' की सत्ता स्वीकार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यदि आस्था के आधार पर 'वह' की सत्ता स्वीकार कर ली जाय तो 'यह' की आसक्ति का अन्त होते ही 'वह' की अनुरक्ति स्वत. जाग्रत होती है। आसक्ति और अनुरक्ति में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को जन्म देती है और अनुरक्ति जिसके प्रति होती है उसके लिए रस-रूप होती है। इस दृष्टि से अनुरक्ति का बड़ा ही महत्त्व है। आसक्ति का अत्यन्त अभाव बिना हुए अनुरक्ति के साम्राज्य में प्रवेश ही नही होता। इस कारण आसक्ति का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है जो एकमात्र विरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति घृणा नही है, अपितु पराधीनता का अन्त करने मे साधन रूप है। इस दृष्टि से विरक्ति पूर्वक ही अनुरक्ति प्राप्त होती है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति, इनसे जिसका सम्बन्ध है वह 'यह' और 'वह' से रहित है। सकेत भाषा में आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति 'मैं' का कार्य है 'मैं' नही, कारण, कि आसक्ति और विरक्ति दोनो ही अनुरक्ति से अभिन्न होती है। अनुरक्ति ने उससे भिन्न का अनुभव ही नही किया जिसकी वह अनुरक्ति है।

अतः 'मैं' अनुरक्ति से अभिन्न हो, अनन्त को रस प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार 'मैं' आसक्ति से युक्त होकर पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध होता है उसी प्रकार 'मैं' विरक्ति से अभिन्न होकर अपने ही में सन्तुष्ट होता है और अनुरक्ति से अभिन्न होने पर 'मैं' अनन्त को रस प्रदान करता है। इस दृष्टि से 'मैं' के सम्बन्ध में जितना कहा जाय कम है, जो 'कुछ नही' होकर 'सब कुछ' है और 'सब कुछ' होकर 'कुछ नही' है। यही 'मैं' की विलक्षणता है।

यह नियम है कि जो, कुछ नही होता अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की सीमा, नाप-तौल नही है, वह सभी से अभिन्न हो सकता है और उसमें सभी की स्थापना हो सकती है। इसी कारण अहम् में शरीर-भाव, जीव-भाव, ब्रह्म-भाव आदि की स्थापना हो सकती है क्योंकि यदि 'मैं' कोई ऐसा पदार्थ होता, जिसका विवेचन बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव होता तो उसमें किसी और की स्थापना सम्भव न होती किन्तु अहम् में ही जगत् का बीज, तत्त्व की जिज्ञासा और अनन्त की प्रियता विद्यमान है। ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त होने पर अहम् में जगत् का बीज शेष नही रहता अर्थात् अहम् का दृश्य से सम्बन्ध नही रहता। इतना ही नही दृश्य अहम् में विलीन हो जाता है और फिर तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रीति की जाग्रति स्वतः हो जाती है। प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नही रहने देती। दूरी के नाश में ही योग की और भेद के नाश में ही बोध की अभिव्यक्ति निहित है। इस दृष्टि से योग, बोध और प्रेम अहम् के ही रूपान्तर है अर्थात् अहम् योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाता है। अहम् का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है, अपितु ममता, जिज्ञासा एवं आस्था की स्वीकृति जिसमें भासित होती है वही अहम् है। ममता का नाश, जिज्ञासा की पूर्ति और आस्था में आत्मीयता होने पर एक-मात्र प्रेम-तत्त्व ही शेष रहता है। प्रीति में अस्तित्व उसी का है जिसकी वह प्रीति है, प्रीति सतत् गतिशील तत्त्व है; 'यह' की

ओर गति होने पर आसक्ति के रूप मे भासती है, 'यह' से विमुख होने पर विरक्ति तथा 'वह' की ओर गतिशील होने पर अनुरक्ति होती है। यदि प्रतीति का स्वतत्र अस्तित्व होता तो आसक्ति विरक्ति में परिणत न होती और यदि कोई स्वतत्र सत्ता न होती तो विरक्ति अनुरक्ति में परिणत न होती पर मानव-दर्शन से यह स्पष्ट विदित होता है कि असक्ति विरक्ति में और विरक्ति अनुरक्ति में परिणत होती है। सर्वांश में आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति का भास होता है और विरक्ति की पूर्णता होते ही अनुरक्ति का प्रादुर्भाव होता है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति उसी समय तक अलग अलग प्रतीत होती है जिस समय तक सर्वांश मे आसक्ति का नाश नही होता। पराधीनता-जनित वेदना आसक्ति के नाश में हेतु है। आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति की अभिव्यक्ति होती है जो स्वाधीनता की जननी है। विरक्ति की पूर्णता स्वाधीनता-जनित रस में सन्तुष्ट नही रहने देती। बस उसी काल मे विरक्ति स्वतः अनन्त की अनुरक्ति हो अनन्त को रस प्रदान करती है। आसक्ति सुख-लोलुपता में और विरक्ति स्वाधीनता में आबद्ध करती है। किन्तु स्वाधीनता-जनित रस अखण्ड होने पर भी नित-नव नही है। नित-नव रस की भूख ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों स्वाधीनता-जनित रस से असगता होती जाती है, असंगता की पूर्णता स्वतः प्रीति में परिणत होती है। इस दृष्टि से मानव की पूर्णता एक-मात्र प्रीति से अभिन्न होने में ही है। आसक्ति का नाश होते ही शान्ति, शक्ति, मुक्ति स्वत. प्राप्त होती है किन्तु शक्ति, मुक्ति आदि का आश्रय अहम् को परिच्छिन्नता के रूप में जीवित रखता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नही होता और उसके नाश हुए विना नित-नव रस की अभिव्यक्ति नही होती जो वास्तविक जीवन है। यद्यपि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता स्वभाव से ही प्रिय हैं पर प्रियता का रस ऐसा विलक्षण हैं कि उसके

लिए स्वाधीनता आदि को न्यौछावर करना सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। अशान्ति की व्यथा मिटाने में शान्ति और असमर्थता की वेदना मिटाने में शक्ति एवं पराधीनता की पीडा के नाश में स्वाधीनता बडे ही महत्व की वस्तु है। मानव बुद्धि-दृष्टि तथा इन्द्रिय-दृष्टि से अपने को अशान्ति, असमर्थताए वं पराधीनता में आबद्ध पाता है। इस कारण शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता को महत्व देता है। वास्तव में तो शान्ति सामर्थ्य और स्वाधीनता स्वतः प्रीति में परिणत होती है; कारण, कि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता में "निज-रस" है। निज-रस में सन्तुष्ट हो जाना, अपनेपन को जीवित रखना है। अपनापन कितना ही महान् क्यो न हो किन्तु उसमे किसी न किसी रूप में परिच्छिन्नता रहती है। जो यह अनुभव करता था कि 'मै अशान्त हूँ' 'मैं असमर्थ हूँ', 'मै पराधीन हूँ' वही अनुभव करता है कि 'मैं 'शान्त हूँ,' 'समर्थ हूँ' 'स्वाधीन हूँ'। पराधीनता आदि दोषो की अपेक्षा स्वाधीनता आदि बड़े ही महत्व की वस्तुएँ है परन्तु 'मैं स्वाधीन हूँ' इस प्रकार की सीमा तो रहती ही है। परिच्छिन्नता रहते हुए किसी न किसी प्रकार की माँग रहती ही है, जिसके रहते हुए पूर्णता कैसी ? प्रीति का प्रादुर्भाव होने पर माँग का अन्त हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव की पूर्णता है। यह मानव का अपना दर्शन है।

अपने में ब्रह्मभाव की स्थापना साधन रूप है, किन्तु क्या ब्रह्म ने ब्रह्मभाव की स्थापना की ? यह भ्रम कि 'मैं' पहले ब्रह्म था, अब नही हूँ किन्तु जब मुझे किसी ने स्मरण दिलाया तब मुझे यह अनुभव हुआ कि 'मैं' ब्रह्म हूँ तो क्या ब्रह्म मे ब्रह्म की विस्मृति हुई और फिर ब्रह्म ने ही मुझ से भिन्न होकर मुझे ब्रह्म की स्मृति दिलाई ? यदि ब्रह्म का यह अपमान अभीष्ट है तब तो यह मानना उचित ही है कि मैं ब्रह्म हूँ पर भूल से अपने को जीव मानता था। माया और अविद्या ने मुझे भुला दिया अर्थात् माया और अविद्या ब्रह्म से सबल

हो गई। 'मैं' क्या हूँ ? इसका उत्तर आस्था के आधार पर देना दर्शन नही है। दर्शन में आस्था अपेक्षित नहीं है। दर्शन का प्रादुर्भाव सन्देह की वेदना से होता है। सन्देह की वेदना जिसमें होती है वह मानव है और उसी में आसक्ति, जिज्ञासा तथा आस्था है। आसक्ति प्रमाद-जनित है। इस कारण उसका नाश होता है और जिज्ञासा की पूर्ति विचार-सिद्ध है। इस कारण उसकी पूर्ति होती है। सन्देह की वेदना को देख, जिज्ञासा की पूर्ति के लिये विचार के स्वरूप में किसी की अहैतुकी कृपा अवतरित होती है, जो अविचार का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान कर स्वतः विलीन हो जाती है। निस्सन्देहता की प्राप्ति में ही दर्शन की पूर्णता है। निस्सन्देहता स्वतः प्रीति प्रदान करती है, जो वास्तविक जीवन है। सन्देह के रहते हुए प्रीति जाग्रत नही होती। सन्देह अपनी ही भूल से होता है। भूल अविवेक सिद्ध है। अतः जाने हुए का अनादर करने से भूल उत्पन्न होती है। मानव-दर्शन यह प्रेरणा देता है कि अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अपना लेना अनिवार्य है। जाने हुए का प्रभाव न तो प्रतीत होने वाले दृश्य में अहम्-बुद्धि को जन्म देता है और न स्वीकृतियों में ही अहम्-बुद्धि होने देता है। जाने हुए का प्रभाव प्रतीति से असंग कर जो 'है' उससे अभिन्न करता है। अभिन्नता में ही अगाध, अनन्त, प्रियता है। प्रतीति की आसक्ति जिसमें भासित है उसी में अगाध प्रियता की माँग है। आसक्ति के नाश में माँग की पूर्ति स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से अगाधप्रियता ही 'मैं' का वास्तविक स्वरूप है। प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा है और विवेकात्मक रूप त्याग है अर्थात् स्थान भेद से प्रीति ही सेवा, त्याग तथा प्रेम के रूप में है। सेवा जगत् के लिए, त्याग अपने लिए एवं प्रेम अनन्त के लिए उप-योगी है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन में ही मानव जीवन की पूर्णता निहित है।

अनन्त से अभेद-भाव स्वीकार करने पर भी अनन्त की प्रियता

ही वास्तविक एकता प्रदान करती है। प्रतीति से असंगता विचार-साध्य है। सन्देह की वेदना से विचार स्वतः अवतरित होता है। 'यह' जिसकी कृपा है 'मैं' उसी की प्रीति है और उसी की स्वतंत्र सत्ता है। जिसकी स्वतत्र सत्ता है उसी में आस्था करना है। जिसकी स्वतंत्र सत्ता नही है उसी पर विचार करना है। प्रतीति की स्वतत्र सत्ता नहीं है। अतः उस पर विचार करना है। वह तभी सम्भव होगा जब प्रतीति की ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त कर दिया जाय। ममता के नाश से निष्कामता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निष्कामता असगता की जननी है और असगता से स्वतः तादात्म्य नष्ट होता है जिसके होते ही असत् की निवृत्ति एव सत् की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

जिसका बोध नही है अपितु सुना है उसकी आस्था यद्यपि दर्शन नही है परन्तु साधन रूप अवश्य है। जो जाना हुआ नही है उसी से आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक भेद अथवा अभेद भाव से सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है। स्मृति बोध, प्राप्ति तथा प्रियता प्रदान करती है। विस्मृति से दूरी, भेद तथा भिन्नता उत्पन्न होती है। सम्बन्ध स्वीकार करते ही स्मृति उदित होती है और विस्मृति नष्ट होती है। प्रतीति-जनित सुख-लोलुपता के रहते हुए 'है' से सम्बन्ध स्वीकार करना सम्भव नही है, कारण, कि 'नही' में 'है' बुद्धि स्वीकार करने से ही, 'है' से विमुखता होती है। 'नही' को 'नही' जान लेने पर 'नही' की निवृत्ति और 'है' मे आत्मीयता बड़ी ही सुगमतापूर्वक जाग्रत होती है, जो स्मृति में हेतु है।

आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक की हुई स्वीकृति साधन-रूप होने से मान्य है। किन्तु उसे बोध मानना आस्था को ही बोध कहना है। बोध किसी की अपेक्षा से नही होता, कारण, कि बोध जिसका होता है और जिसे होता है उसमें भेद नही रहता अर्थात् बोध के लिए जाने हुए का आदर ही एकमात्र सहयोगी साधन है।

मानव में बुद्धि तथा इन्द्रियो के द्वारा देखे हुए का प्रभाव अंकित है। उस प्रभाव के रहते हुए सुने हुए में अविचल आस्था सम्भव नहीं है। अतः जाने हुए के प्रभाव से जब देखे हुए का प्रभाव नाश हो जाता है तब स्वभाव से ही निर्ममता, निष्कामता एवं असगता आ जाती है जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव में ही दर्शन निहित है।

जिस प्रवृत्ति तथा स्वीकृति के मूल में दार्शनिक भित्ति नहो होती वह प्रवृत्ति तथा स्वीकृति साधन रूप नही है। अत. प्रत्येक मानव को निज विवेक के प्रकाश में यह अनुभव करना अनिवार्य है कि प्रवृत्तियो तथा स्वीकृतियों के मूल में जाने हुए का अनादर तो नहीं है। जाने हुए का अनादर करने पर वास्तविकता से परिचित होना सम्भव नही है। जिसके बिना हुए निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति नही होती। सन्देह-युक्त दशा में मानव न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर पाता है और न परिस्थितियो से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न ही होता है। इस कारण निस्सन्देहता प्राप्त करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा जब किसी भी प्रकार जाने हुए का अनादर न किया जाय। जाने हुए के प्रभाव में ही निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

देखा हुआ यद्यपि ज्ञान जैसा प्रतीत होता है परन्तु ज्ञान नही है। कारण, कि देखने मे करण की अपेक्षा होती है। किसी भी करण द्वारा 'मैं' का वोध नही होता। करण के द्वारा तो केवल 'यह' के सम्बन्ध में ही खोज होती है। 'मैं' का अनुभव करने के लिए 'यह' से असहयोग करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामत ही साध्य है। निर्ममता, निष्कामता किसी प्रवृत्ति से साध्य नही है; कारण, कि प्रत्येक प्रवृत्ति मिले हुए के सहयोग से ही सम्भव है। जिससे निर्मम तथा निष्काम होना है उसके सहयोग का त्याग आवश्यक है। इस दृष्टि से निर्ममता तथा निष्कामता विचार से ही साध्य है। विचार-

पूर्वक ममता तथा कामनाओं का त्याग करने पर स्वत. असगता प्राप्त होती है जिसके होते ही तादात्म्य का अन्त हो जाता है। तादात्म्य के नाश में ही वास्तविक बोध की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण बोध विचार से ही साध्य है, आस्था से नही। आस्था स्वय स्वतत्र पथ है उसके लिए विचार अपेक्षित नही है और विचार स्वतत्र पथ है उसके लिए आस्था अपेक्षित नही है। इन दोनो का मिलाना दोनों की वास्तविकता से अपरिचित होना है। विचार असत् की निवृत्ति मे हेतु है; कारण, कि असत् की प्रतीति अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय अविचार का अन्त कर स्वतः अपने अधिष्ठान मे विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से विचार वास्तविकता के बोध के लिए साधन रूप है। बोध होने पर अविचार की उत्पत्ति नही होती और विचार का भास नही होता। विचार का भास अविचार के रहते हुए ही है। 'मैं' विचारक हूँ यह भास अविचार काल में ही है। वास्तव मे तो 'मैं' रहित विचार ही विचार है जो अविचार का अन्त करने मे समर्थ है। श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने पर तो एकमात्र प्रियता ही शेष रहती है। परन्तु मुझ में आस्था है, यह भास तभी तक होता है जब तक प्रियता की अभिव्यक्ति नही होती। आत्मीयता की प्राप्ति के लिए आस्था, श्रद्धा, विश्वास साधन रूप है। आत्मीयता में ही आस्था, श्रद्धा, विश्वास विलीन हो जाते हैं और आत्मीयता अगाध प्रियता मे। जब तक आस्था श्रद्धा मे, श्रद्धा विश्वास मे और विश्वास आत्मीयता मे एव आत्मीयता प्रियता मे परिणत नही होती तब तक यह भास होता है कि मुझ मे आस्था हैं। मै विश्वास पथ का साधक हूँ। परन्तु जब प्रियता से भिन्न कुछ नही रहता तब मुझ में प्रेम है, यह भास भी नही होता, पर प्रेम है यही शेष रहता है। बोध और प्रेम इन दोनो में स्वरूप की एकता है किन्तु रस में भेद है। बोध का रस अखण्ड और प्रम का अनन्त है। जीवन की माँग अनन्त रस की है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन

की पूर्णता निहित है। साधन रूप प्रेम बोध में विलीन होता है और साधन रूप बोध प्रम में विलीन होता है। साध्य रूप बोध और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः बोध में प्रेम और प्रेम में बोध ओत-प्रोत हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते है जिन्होने आस्था से प्रियता और विचार से बोध प्राप्त किया है। साधन की ममता भी साधन में आसक्ति उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत साधन की आसक्ति अन्य साधन की विरोधी है। इस दृष्टि से साधन जीवन हो किन्तु साधन की आसक्ति न हो। साधन की आसक्ति का नाश एकमात्र वास्तविकता से परिचित होने में ही निहित है। इस कारण मानव-दर्शन का आदर करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

अपना वास्तविक परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। पराश्रय का त्याग होने पर अपने द्वारा अपना परिचय स्वत. हो जाता है। पराश्रय से तादात्म्य होने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामनाओ की उत्पत्ति प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है और फिर मानव 'अपने' को अथवा 'पर' को वास्तविक रूप से जान नही पाता। उसका परिणाम यह होता है कि देखे हुए में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है जो किसी को भी चैन से नही रहने देती। इस दृष्टि से पराश्रय के त्याग मे ही वास्तविकता का बोध सम्भव है। पराश्रय का त्याग तभी सम्भव होगा जब पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर दिया जाय और पराधीनता असह्य हो जाय अर्थात् स्वाधीनता के विना किसी प्रकार न रह सके। स्वाधीनता की उत्कट लालसा स्वत निर्ममता, निष्कामता प्रदान करती है। निष्कामता-जनित शान्ति मे और निर्ममता-जनित निर्विकारता से भी आवद्ध नहीं होना है। अर्थात् शान्ति मे रमण नही करना है और न व्यक्तिगत गुणो का भोग करना है। शान्ति मे रमण तथा गुणों का भोग न करने से स्वतः स्वाधीनता के साम्राज्य मे प्रवेश होता है। यद्यपि

शान्ति बड़ी ही मधुर है परन्तु उसमें रमण करने से असगता प्राप्त नही होती और असगता के बिना वास्तविकता से अभिन्नता सम्भव नही है। निर्विकारता के समान और कोई सौन्दर्य नही है किन्तु निर्विकारता को अपने में आरोप करने से व्यक्तित्व का मोह पोषित होता है जो असीम अनन्त जीवन से अभिन्न नही होने देता। यद्यपि सुन्दर व्यक्तित्व की माँग सभी को रहती है परन्तु व्यक्तित्व का अभिमान भेद तथा भिन्नता उत्पन्न करता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से पराश्रय का त्याग वही कर सकता है जिसने अपने को शान्ति तथा निर्विकारता से असग करने का प्रयास किया है। असगता सीमित, परिवर्तनशील सौन्दर्य से आकर्षित न होने पर ही सम्भव होती है अर्थात् अनन्त नित्य सौन्दर्य की उत्कट लालसा में ही असगता निहित है। असगता प्राप्त करने के लिए शरीर, इन्द्रिय मन, बुद्धि आदि के सहयोग की लेश मात्र भी अपेक्षा नही है अपितु इनसे असहयोग करने पर अपने आप अपने में असगता की अभि-व्यक्ति होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनता पूर्वक असग हो सकता है और असगता ही एकमात्र अपने वास्तविक परिचय मे समर्थ है। असत् से असग होने पर ही असत् का परिचय यथा उसकी निवृत्ति एव सत् से अभिन्नता होती है। स्वाधीनता की तीव्र लालसा असत् के सग जनित कामनाओ को नाश कर देती है और फिर वडी ही सुगमतापूर्वक असत् से असगता प्राप्त होती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने मे समर्थ है। इस दृष्टि से वास्तविक माँग की जाग्रति में ही अपना वास्तविक परिचय निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते है जिन्हो ने अपने सम्वन्ध में अपने ही द्वारा खोज की है। अपने द्वारा अपनी खोज न करने के समान और कोई असावधानी नही है। असावधानी वनाये रखना अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान करना है। अत 'मैं' क्या हूँ ? इस सम्वन्ध मे अपने ही को खोज करना है 'मैं' की खोज करने में जब प्राप्त इन्द्रिय,

मन, बुद्धि आदि निकटवर्ती ही समर्थ नही है, तो फिर किसी अन्य के द्वारा 'मैं' की खोज हो सकती है, ऐसा सोचने के समान और कोई भूल नही है।

'पर' के द्वारा 'स्व' का बोध न किसी को हुआ है और न होगा। 'स्व' के द्वारा ही अपना परिचय सम्भव है। 'पर' से विमुख होते ही 'स्व' के द्वारा 'स्व' की खोज करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। 'पर' के सहयोग से एकमात्र 'पर' के सम्वन्ध में ही प्रयास हो सकता है। इन्द्रिय-जन्य प्रतीति पर बुद्धि-जन्य दृष्टि का प्रभाव हो सकता है किन्तु 'स्व' की ओर गतिशील होते ही वेचारी वुद्धि स्वत. सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही स्वय 'स्व' मे विचार का उदय होता है जो 'मैं' की वास्तविकता के परिचय मे हेतु है। वुद्धि-दृष्टि का प्रयोग एकमात्र इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के नाग में है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही दृश्य की सत्यता तथा सुन्दरता शेष नही रहती और फिर इन्द्रिय-दृष्टि स्वत मन मे और मन निर्वि कल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि की समता यद्यपि सामर्थ्य की प्रतीक है; कारण, कि बुद्धि के सम होने पर ही भिन्न भिन्न प्रकार की शक्तियो का प्रादुर्भाव होता है, परन्तु बुद्धि बेचारी 'स्व' के सम्वन्ध में कुछ नही जानती इस कारण अपना परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। 'पर' के द्वारा अपने सम्बन्ध में अनेक स्वीकृतियाँ स्वीकार की और प्रत्येक स्वीकृति ने किसी न किसी प्रकार की प्रवृत्ति को जन्म दिया। यह सभी को मान्य होगा कि प्रवृत्ति में प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता की दासता और परिणाम में अभाव ही सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से प्रवृत्ति द्वारा न तो मानव अपने को ही जान सका और न पराधीनता, अभाव एव असमर्थता से भिन्न कुछ पा सका। इस दृष्टि से स्वीकृति 'स्वरूप' नही है अपितु किसी न किसी प्रवृत्ति की जननी है।

स्वीकृतियों में सन्देह होने पर ही जिज्ञासा की जाग्रति होती है।

जिज्ञासा की जाग्रति समस्त स्वीकृतियो का अन्त कर सभी वस्तु अवस्था परिस्थितियों से विमुख कर देती है और फिर स्वतः 'स्व' में ही विचार का उदय होता है जो जिज्ञासा पूर्ति मे समर्थ है।

जो स्वीकृतियाँ प्रतीति अर्थात् दृश्य से सम्बन्ध जोडती हैं वे या तो काम की जननी हैं अथवा कर्त्तव्य की प्रतीक है। कर्त्तव्यपरायणता विद्य-मान राग की निवृत्ति में हेतु है। किन्तु यदि 'पर' से सुख की आशा की तो पुनः नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य को प्रेरित करने वाली स्वीकृतियो का कर्त्तव्य-निष्ठ होकर अन्त करना अनिवार्य है अपने को शरीर मानने वाली स्वीकृति काम की जननी है। अत. अपने मे से देह-भाव का अन्तकर निष्काम होना अनिवार्य है। निष्काम विना हुए 'पर' से सुख की आशा का नाश नही होता और उसका नाश हुए बिना नवीन राग की निवृत्ति नही होती। राग रहित होने पर ही स्वीकृतियो से रहित होने की सामर्थ्य आती है। अर्थात् स्वीकृतियो मे अहम्-बुद्धि नही रहती। राग ही एकमात्र स्वीकृतियो में अहम्-बुद्धि जीवित रखता है। राग भूल से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से स्वीकृतियो मे अहम्-बुद्धि भूल है। भूल-जनित वेदना जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जाग्रति भूल-जनित सुख-लोलुपता के मिटाने में समर्थ है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा स्वतः तीव्र हो जाती है। तीव्र जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है। इस दृष्टि से जिज्ञासा पूर्ति में काल अपेक्षित नहा है। जब तक सर्वांश मे जिज्ञासा जाग्रत नही होती तभी तक वास्तविकता से अभिन्न होने में भविष्य की आशा रहती है। वास्तविकता के परिचय के लिए भविष्य की आशा जिज्ञासा को शिथिल करती है। जिज्ञासा की शिथिलता जिज्ञासापूर्ति में विघ्न है। जिज्ञासा जो 'है' उसका बोध कराती है किसी अप्राप्त की प्राप्ति में हेतु नही है। जो प्राप्त है उसके परिचय के लिए क्या भविष्य की आशा भारी भूल नही है ? अवश्य है। 'है' का परिचय किसी श्रम से भी साध्य नही है; कारण,

कि श्रम के द्वारा उसी को जाना जाता है जिससे देश, काल आदि की दूरी हो। जो देश, काल आदि की दूरी से रहित है उसका परिचय श्रम रहित होने पर ही सम्भव है। कामनाओं की पूर्ति के लिए श्रम भले ही अपेक्षित हो किन्तु वास्तविकता से परिचित होने के लिए श्रम की लेशमात्र भी आवश्यकता नही है। तीव्र जिज्ञासा से जब कामनाओं का नाश हो जाता है तव स्वतः मानव श्रम रहित होता है। विश्राम की भूमि में स्वतः विचार का अवतरण होता है-जो वास्तविकता के बोध में समर्थ है।

श्रम रहित होने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नही है अपितु सहज निवृत्ति है। यह सभी को मान्य है कि प्रवृत्ति से सामर्थ्य का व्यय और निवृत्ति से सामर्थ्य का सपादन होता है अत. श्रम रहित होते ही सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कामनाओ के रहते हुए प्राप्त सामर्थ्य की गति दृश्य की ओर होती है और निष्काम होते ही गति 'स्व' की ओर होती है जो 'स्व' के बोध में हेतु है। इस दृष्टि से विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा समस्त दृश्य को 'मैं' नही कह सकते; कारण, कि जिसको 'यह' कह कर जानते तथा सम्बोधन करते है उसको 'मैं' मान लेना भूल के अतिरिक्त और कुछ नही है। जिसे न तो इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा है और न अपने द्वारा अनुभव किया है अपितु सुना है उसको भी 'मैं' नही कह सकते। अर्थात् सुना हुआ आत्मा और परमात्मा तथा देखा हुआ शरीर और जगत् इन दोनो को ही 'मैं' नही कह सकते पर अपने में शरीर आदि की ममता, आत्मा की जिज्ञासा एव परमात्मा की लालसा अवश्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'मैं' न तो पर-प्रकाश्य जड़ है और न चेतन, पर यह ऐसा विलक्षण है कि जिससे मिला हो उस जैसा ही प्रतीत होने लगता है। किसी की वास्तविकता को जानने के लिए उसे सभी से अलग करना अनिवार्य है। अतः अपने को यदि जड़, चेतन

से न मिलाया जाय तभी अपना वास्तविक परिचय हो सकता है। ममता कामना तथा तादात्म्य के त्याग से जड़ से सम्बन्ध विच्छेद होता है। जड़ से सम्बन्ध विच्छेद होने पर 'मैं जड नही हूँ' यह अनुभव स्वतः हो जाता है, पर 'मैं' क्या हूँ यह स्पष्ट नही होता। इस दशा में मानव अधीर होकर श्रवण के आधार पर अपने को आत्मा, ब्रह्म आदि मान लेता है। अविचल आस्था होने से यह अनुभव होता है कि यह मेरा ज्ञान है। एक बार मान लेने पर भी बार-बार मनन करना इस कारण अपेक्षित हो जाता है कि कही पूर्व स्वीकृति पुन न आ जाय। अब विचार यह करना है कि सुने हुए का मनन क्या आस्था की दृढता के अतिरिक्त कुछ और है ? अर्थात् कुछ नही। जो आस्था से साध्य है क्या वह बोध है ? यदि बोध है तो आत्मा ने अपने में अनात्म भाव को क्यों स्वीकार किया ? अर्थात् चेतन तत्व ने जड से तादात्म्य क्यो स्वीकार किया ? क्या चिन्मय तत्व में भी विस्मृति का दोष हो सकता है ? यदि हो सकता है तो चिन्मय कैसा ? पर अपने से अपने को इतना मोह हो गया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यदि मैं जड नही हूँ तो चेतन हूँ। चेतन सदैव चेतन है, और जड सदैव जड है। जड और चेतन का मिलन सम्भव नही है, कारण, कि दो विरोधी सत्तायें आपस में कभी नही मिलती। अत यह मान लेना भी भ्रममूलक ही है कि जड़ चेतन के मिलने से जो ऐसी चीज उत्पन्न हुई जो न जड है और न चेतन वही 'मैं' हूँ।

जब जडचेतन का मिलन ही नही है तब उसके मिलने से जो उत्पन्न हुआ वह 'मैं' हूँ यह भी भूल ही है। 'मैं' जड़ नही हूँ यह विवेक सिद्ध है। 'मैं' चेतन हूँ यह आस्थापूर्वक भले ही मान लिया जाय, पर बोध नही है। किसी का बोध किसी की आस्था हो सकती है पर यह विचार-पथ नही है विचार-पथ की दृष्टि से 'मैं' का अर्थ न तो देखा हुआ 'यह' है और न सुना हुआ 'वह'। 'यह' की आसक्ति और जिज्ञासा तथा प्रियता जिसमें है वही 'मैं' है। आसक्ति का नाश तथा

ज़िज्ञासा की पूर्ति होने पर एकमात्र अगाधप्रियता ही शेष रहती है। इस दृष्टि से 'मैं' का वास्तविक स्वरूप एकमात्र अगाध, अनन्त नित-नव प्रियता है।

'मैं' की अन्तिम परिणति अगाधप्रियता में ही होती है। यह मानव का अपना दर्शन है; कारण, कि 'यह' की ममता करके जो आसक्ति उत्पन्न हो गई थी वह स्वाधीनता की लालसा के आधार पर नाश हो गई, जिसके होते ही पराधीनता मिट गई और 'मैं' स्वाधीन हूँ यह बोध हो गया पर जिसकी अहैतुकी कृपा से आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य मिली थी उसको भूल जाना और उसके स्थान पर 'मैं' की ही स्थापना कर लेना, यह कहाँ तक युक्तियुक्त है ? 'है' की उदारता के दुरुपयोग के अतिरिक्त इसे और क्या कहेंगे कि जिसने स्वाधीनता प्रदान की उसको भूल गए और 'है' के स्थान पर 'मैं' की स्थापना कर दी। 'है' की तो यह महिमा है कि वह सभी को सत्ता देता है, और अपनाता है। इसी कारण 'मैं' को स्वीकार करने पर 'मैं' ही सत्य मालूम होता है और 'यह' को स्वीकार करने पर 'यह' सत्य मालूम होता है। जिससे 'यह' और 'मैं' की सत्यता प्रकाशित होती है उसमें प्रियता ही 'मैं' की वास्तविकता है। परन्तु प्रियता स्वयं अपने ही मे 'है' को विलीन कर ले, इससे 'है' में कोई क्षति नही होती क्योंकि 'है' स्वभाव से ही अनन्त है। परन्तु 'है' की प्रियता होकर 'मैं' का अन्त हो जाय तो अनन्त रस की अभिव्यक्ति स्वत. होती है जो मानव की वास्तविक माँग है।

यदि कोई यह स्वीकार करे कि 'यह' और 'वह' को अपने मे विलीन करना है अर्थात् 'यह' और 'वह' 'मैं' की ही अभिव्यक्ति है तो इसमे भी 'है' को कोई आपत्ति नही होती परन्तु 'मैं' और 'यह' की परिच्छिन्नता तो स्पष्ट ही विदित है। क्या परिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति अनन्त हो सकती है ? कदापि नही। परिच्छिन्नता 'है' की ही एक अवस्था मात्र है. इसमें कोई सन्देह नही; कारण, कि 'है'

अपने और अपने से भिन्न के प्रकाशन से समर्थ है। पर-प्रकाश्य की अभिव्यक्ति स्वय-प्रकाश नही हो सकती। स्वय-प्रकाश की एक अवस्था पर-प्रकाश्य भी हो सकती है। अत. 'यह' और 'मैं' को 'है' में विलीन करना अधिक युक्ति-युक्त तथा स्पष्ट है, जो एकमात्र विरक्ति तथा अनुरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति 'यह' को 'मैं' में और अनुरक्ति 'मैं' को 'है' से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अगाधप्रियता ही 'मै' की अन्तिम परिणति है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने मे समर्थ है।

गाम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जगत् को 'मै' की आवश्यकता नही है और 'मै' को जगत् की आवश्यकता नही है। प्रत्येक मानव विवेक पूर्वक शरीर से अपने को अलग स्वीकार करने पर यह सिद्ध नही कर सकता कि उसे जगत् की माँग है और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रूप मे प्राप्त है उसी की जगत् आवश्यकता अनुभव करता है। वस्तु आदि से रहित 'मै' की आवश्यकता जगत् को नही है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' की जातीय एकता 'वह' के साथ और मानी हुई एकता जगत् के साथ है। यदि मानव जगत् से मिली हुई वस्तु को जगत् को भेट कर दे तो जगत् को फिर और कुछ नही चाहिए। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, रहित जो 'मै' का भास है वह तो एकमात्र 'वह' जो देखा हुआ नही है उसी की प्रीति है। इसी कारण अगाधप्रियता ही 'मै' का स्वरूप है।

'यह' की ममता के कारण 'मैं' पराधीनता मे आवद्ध होता है और निष्कामता, निर्ममता आदि के द्वारा 'मै' पराधीनता रहित होता है और 'वह' की आत्मीयता-पूर्वक 'मै' अगाधप्रियता से अभिन्न होता है। यह नियम है कि अभिन्नता उसी से होती है जिससे स्वरूप की एकता हो; आसक्ति से अभिन्नता कभी नही होती। इससे यह स्पष्ट विदित हैं कि 'यह' से 'मैं' की केवल मानी हुई एकता है जो भूल-

जनित है। पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वाधीनता की लालसा आसक्ति को विरक्ति में परिणत करती है परन्तु केवल विरक्ति मात्र से सतुष्टि नही होती। इससे यह विदित होता है कि विरक्ति जब तक अनुरक्ति से अभिन्न नही होती तब तक मानव कृत-कृत्य नही होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि अगाधप्रियता से ही 'मैं' की वास्तविक एकता है।

आसक्ति, परिच्छिन्नता और प्रियता के अतिरिक्त 'मैं' के सम्बन्ध में किसी की कोई अनुभूति ही नही है। 'यह' की ममता, कामना करके 'मैं' पराधीन हूँ मुझ में अनेक आसक्तियाँ है यही अनुभूति होती है। इस अनुभूति का कारण नाश होने पर अर्थात् निर्ममता, निष्कामता अपना लेने पर 'मैं पराधीन हूँ, मुझ में लोभ, मोह आदि विकार हैं,' यह अनुभूति शेष नही रहती। पराधीनता आदि का आरोप अपने में एकमात्र भूल-जनित है। भूल-जनित प्रतीति को वास्तविकता नहीं कह सकते। अतः आसक्ति 'मैं' का वास्तविक परिचय नही है। निर्ममता, निष्कामता से उदित शान्ति, निर्विकारता तथा स्वाधीनता यह साधन जनित अनुभूति है। साधन-जनित अनुभूति का महत्त्व उसी समय तक जीवित रहता है जिस समय तक किसी न किसी अंश मे असाधन है। जिस प्रकार काष्ठ का अत्यन्त अभाव होने पर प्रज्व-लित अग्नि शेष नही रहती, उसी प्रकार असाधन का अत्यन्त अभाव होने पर साधन-जनित निर्विकारता, समता, स्वाधीनता आदि की अनुभूति तथा भास शेष नही रहता अर्थात् दोष का नाश और गुणो का अभिमान गल जाने पर एकमात्र अनन्त की प्रियता ही शेष रहती है जो अनन्त से अभिन्न ही है। अतः 'मैं' की वास्तविकता का परिचय अगाध, अनन्त नित-नव प्रियता से भिन्न नही है।

भोग में आबद्ध मानव मोक्ष के महत्त्व को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से मुक्ति भुक्ति की पीड़ा से बचाने का उपाय है और कुछ नही। भुक्ति की सुख-लोलुपता पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध करती

है। इस कारण सुख-लोलुपता त्याज्य है और मुक्ति मानव को शान्ति स्वाधीनता आदि में आबद्ध करती है। अतः सुख-लोलुपता की दासता से रहित होने के लिए ही मुक्ति की महिमा है। वास्तव में तो मुक्ति प्रीति की जननी है; कारण, कि जिसे कुछ नही चाहिए और जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नही है अर्थात् जिसकी शरीर आदि वस्तुओं में ममता नही है, वही अनन्त में आत्मीयता स्वीकार कर सकता है। आत्मीयता से ही अगाधप्रियता जाग्रत होती है जो अनन्त को रस देने में समर्थ है। इस दृष्टि से 'मैं' अनन्त की भोग्य सामग्री है और कुछ नही, किन्तु जब 'मैं' स्वयं अपने को भोग-वासनाओं में आवद्ध कर लेता है तब पराधीनता की पीड़ा से रहित होने के लिए मोक्ष की आवश्यकता अनुभव करता है। मुमुक्षता भोग वासनाओं का अन्त कर पराधीनता से रहित करने में समर्थ है। पराधीनता का नाश होने पर ही 'मैं' अनन्त की भोग्य वस्तु ही रह जाता है जो एकमात्र अगाधप्रियता से भिन्न कुछ नही है।

अपना अनुभव अपने लिए हितकर है पर यदि उसका आदर न किया जाय तो अपने विकास के लिए दूसरों का आश्रय लेना पडता है परन्तु अन्त में वही स्वीकार करना पडता है जो अपना अनुभव है। इस दृष्टि से मानवमात्र को मानव-दर्शन का आदर करना अनिवार्य है। अपनी दशा और अपनी माँग अपने से अपरिचित नही है। अपनी दशा पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृतिक नियमानुसार ऐसी कोई उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि है ही नही जिसके बिना मानव न रह सके और जो मानव के विना न रह सके। यह नियम है कि जिसके विना अल्प से अल्प काल रह सकते हैं उसके बिना सदैव रह सकते हैं। सदैव उसी के साथ रह सकते है जो सदैव है। जो कभी है और कभी नही उसके साथ सदैव रहने का निर्णय अपने आप को धोखा देना है अर्थात् अपने अनुभव का अनादर करना है जो विनाश का मूल है। जो कभी है, कभी नही है उसका सदुपयोग कर

सकते है, उसकी सेवा कर सकते है किन्तु उसको अपना नही मान सकते। अतः प्राप्त वस्तुओ का ममता रहित सद्व्यय और प्राणियों की सेवा सम्भव है और यही सृष्टि मे रहने की सर्वोत्कृष्ट कला है। इस कला से मानव मे यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह उनके बिना रह सकता है जो उसके बिना रह सकते है। इस दर्शन के आधार पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज निवृत्ति पूर्वक उस वास्तविकता का बोध होता है जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है अर्थात् जो उसका अपना है और अपना होने से अपने को अत्यन्त प्रिय है। मानव अपने दर्शन का अनादर करने से ही अपने प्रिय से विमुख हो अनेक प्रकार की नीरसताओ मे आबद्ध हो जाता है। यह उसकी अपनी ही भूल का परिणाम है। दर्शन की परावधि भूल के अभाव में है।

'मैं' स्वभाव से तो सत्-पथ का यात्री है पर प्रमादवश असत् की ओर गतिशील होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। अभाव-जनित वेदना से पीडित मानव अपने जाने हुए असत् से विमुख होता है। विमुख होते ही सत्-पथ में प्रगति स्वत. होती है। इस राह में श्रम की गध भी नही है और बे साथी और बे सामान के ही इस पथ में गमन होता है। यह कैसी अलौकिक बात है। गति है पर श्रम नही अर्थात् श्रम रहित होते ही 'मैं' स्वय उस वास्तविकता से अभिन्न होता है जिसमें अभाव, पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि विकारों की गध भी नहीं है। इस दृष्टि से 'मैं' की कितनी महिमा है। पर बेचारा मानव अपने दर्शन का अनादर कर अपनी महिमा को भूल जाता है। इसके भूलते ही उसमे उत्पन्न हुई उन वस्तुओ की, जिनमें स्थायित्व की गंध भी नही है, अपितु सतत् परिवर्तन है, महिमा अंकित हो जाती है, जिसके होते ही राग उत्पन्न होता है। राग की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते है जिनके होते ही वास्तविकता का पुजारी घोर आपत्तियो में आबद्ध हो जाता है पर वास्तविकता से

जातीय एकता होने के कारण आपत्तियो मे आबद्ध होने पर भी वास्तविकता की लालसा बीज रूप से विद्यमान रहती ही है। ज्यों-ज्यों आपत्ति-जनित पीडा सबल होती जाती है त्यो-त्यों असत् के सग का प्रभाव मिटता जाता है और ज्यो-ज्यो असत् के सग का प्रभाव मिटता जाता है त्यो-त्यो वास्तविकता की माँग सबल होती जाती है। जब वह माँग वर्तमान की माँग हो जाती है तब सर्वांश में असत् का संग नाश हो जाता है जिसके होते ही सत् का पथ स्वत: खुल जाता है और फिर वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है।

ममता तथा जिज्ञासा दोनो ही मानव में विद्यमान है और इन दोनो के आधार पर ही सीमित अहम् भाव का भास है। मानव-दर्शन ममता के नाश मे समर्थ है। ममता का नाश होने पर जिज्ञासा की पूर्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से ममता और जिज्ञासा दोनो ही शेष नही रहती। ममता के नाश से निर्विकारता और जिज्ञासा पूर्ति से निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है। सन्देह रहित निर्विकार जीवन की प्राप्ति मानवमात्र के लिए सम्भव है। उससे निराश होना अपनी ही भूल है। अपनी भूल से ही अपना विनाश है। इस कारण मानव जीवन मे भूल को बनाये रखने का कोई स्थान ही नही है। भूल का अन्त करने के लिए भूल को भूल जान लेना अनिवार्य है जो एकमात्र निज अनुभव के आदर मे ही निहित है। भूल का ज्ञान किसी अन्य के ज्ञान से नही होता अपितु निज ज्ञान से ही मानव अपनी भूल को जानता है। भूल का ज्ञान और उसका नाश युगपद है।

शरीर आदि उत्पन्न हुई वस्तुओ में ममता भूल जनित है। पर यह भूल क्यो हुई ? इस प्रश्न का उत्तर भूल का अन्त होने पर ही सम्भव है। जिसकी उत्पत्ति का अपने को ज्ञान नही है, उसका ज्ञान तभी सम्भव होगा जब उत्पत्ति अपने कारण मे लीन हो जाय। अर्थात् उत्पत्ति का नाश होने पर ही उत्पत्ति के कारण का बोध होगा। अत भूल का नाश होने पर ही भूल क्यों उत्पन्न हुई इसका

बोध होगा। कार्य के रहते हुए कारण की स्वीकृति तो होती है किन्तु कारण का परिचय नही होता। यही कारण है कि भूल के रहते हुए मानव यह अनुभव नही कर पाता कि भूल क्यो हुई ? भूल को भूल जानने के लिए ही किसी की अहैतुकी कृपा से मानव को विवेकरूपी प्रकाश मिला है। जव मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से वर्तमान वस्तु स्थिति को देखता है तव उसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि ममता, कामना तथा तादात्म्य वास्तविक नही है अपितु भूलजनित है। जो वास्तविक नही है उसका त्याग तथा नाश सम्भव है। ममता तथा कामना का त्याग करने पर तादात्म्य स्वत नाश होता है। तादात्म्य का नाश होते ही यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य और सीमित-अहम् भाव में आरोपित स्वीकृतियाँ 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है, अर्थात् प्रतीति और स्वीकृति 'मैं' नही है। जव प्रतीति और स्वीकृतियो से 'मैं' का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तव 'मैं' एकमात्र किसी की माँग, किसी की खोज अथवा किसी की प्रियता के रूप में ही भासित होता है। दु ख-निवृत्ति, परमशाति एव स्वाधीनता की माँग तथा वास्तविकता की खोज और जो है उसी की प्रियता 'मैं' के स्वरूप में शेष रहती है। निर्ममता तथा निष्कामता से दु ख-निवृत्ति शान्ति तथा स्वाधीनता की माँग पूरी हो जाती है और तादात्म्य का नाश होने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि असीम अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन है और अन्त में 'मैं' उसी 'है' की अगाधप्रियता है।

यह मानव मात्र को विदित है कि सर्व प्रथम भास अहम् के रूप में ही होता है और फिर मम का। अहम् और मम इन दोनों में किसी न किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता अवश्य है। यदि ऐसा न होता तो अहम् की प्रवृत्ति मम की ओर न होती; कारण, कि एकता तथा भिन्नता के विना पारस्परिक सम्वन्ध ही नहीं होता। मम करके जिसे सम्वोधन करते है उससे अहम् की किसी न किसी अश में एकता

अवश्य है परन्तु मम की ओर गति होने पर परिणाम में अभाव ही अनुभव होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि उस दृश्य का, जिसको अपना माना था अथवा जिसकी कामना की थी, कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। प्रतीति हो, प्रवृत्ति हो किन्तु प्राप्ति न हो, उसका स्वतत्र अस्तित्व नही है। पर फिर भी प्रतीति होती है। यदि अहम् अर्थात अपने में मम की जाति की कोई भी वस्तु न होती तो मम का आकर्षण ही न होता। मम का आकर्षण यह सिद्ध करता है कि अहम् में कोई न कोई तथ्य मम की जाति का है। इस समस्या पर विचार करने से यह विदित होता है कि जब मानव अपने को मिले हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ अभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है तब उसे अपने में देह-भाव भासित होता है। उसी भास के कारण प्रतीति का आकर्षण होता है। प्रवृत्ति के अन्त में अभाव-जनित अनुभूति प्रवृत्ति को निवृत्ति मे परिणत कर देती है। सहज-निवृत्ति स्वत शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि मे अहम्-बुद्धि नही रहने देती और जब यह स्पष्ट अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अहम् नही है तब प्रतीति का आकर्षण नही रहता अर्थात् निष्कामता उदित होती है। निष्कामता की अभिव्यक्ति होने पर देहाभिमान स्वतः गल जाता है और फिर एक मात्र 'यह' से अतीत की खोज जाग्रत होती है जो उससे जिसका स्वतत्र अस्तित्व है, अभिन्न कर देती है। मम का आकर्षण और वास्तविकता की खोज अहम् रूपी अणु मे ही विद्यमान है। प्रतीति के आकर्षण का अन्त होते ही अहंता वास्तविकता की खोज होकर वास्तविकता से अभिन्न होती है। अर्थात् प्रतीति की कामना मिट कर सत् की जिज्ञासा मे परिणत होती है। सत् की जिज्ञासा स्वतः सत् से अभिन्न होती है। सत् की अभिन्नता सत् में प्रियता प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रतीति की ममता ही सत् की जिज्ञासा और

अत् की जिज्ञासा ही सत् की अभिन्नता और सत् की अभिन्नता ही सत् की प्रियता मे परिणत होती है। प्रतीति की ममता उसी समय तक जीवित रहती है जिस समय तक मानव प्रवृत्ति के परिणाम से प्रभावित नही होता। प्रवृत्ति का आरम्भ काल भले ही सुखद प्रतीत हो, किन्तु परिणाम में तो अभाव ही शेष रहता है जो किसी को अभीष्ट नही है। समस्त प्रवृत्तियों का उद्गम अपने मे देह-भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक सिद्ध है। प्राप्त विवेक का अनादर ही अविवेक है। इस दृष्टि से अपनी भूल ही एक मात्र प्रवृतियो का स्रोत है। प्रवृत्तियों का परिणाम असह्य होने से अपने में स्वयं वास्तविकता की खोज जाग्रत होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तविकता से भी 'मैं' की एकता है। प्रतीति से अहम् की भूल जनित एकता है और वास्तविकता से वास्तविक एकता है। जिससे वास्तविक एकता है उसमें आत्मीयता स्वत. सिद्ध है और जिससे भूल जनित एकता है उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है। ममता के त्याग से आत्मीयता मे सजीवता आती है। ममता के रहते हुए आत्मीयता सजीव नही होती जिसके विना हुए प्रियता की अभिव्यक्ति नही होती। ममता-जनित आसक्ति पराधीनता में आवद्ध करती है और आत्मीयता से उदित प्रियता पराधीनता की तो कौन कहे, स्वाधीनता में भी रमण नही करने देती अपितु जो है उसके लिए रसरूप सिद्ध होती है। यह आत्मीयता की महिमा है। परन्तु जव तक ममता-जनित आसक्ति का अत्यन्त अभाव नही हो जाता, तव तक आत्मीयता की महिमा का वोध नही होता। इस दृष्टि से अहम् से ममता का मिटा देना अनिवार्य है।

मम का अन्त होते ही अहम् स्वत: तत्त्व की जिज्ञासा तथा वास्तविकता की प्रियता मे परिणत हो जाता है अर्थात् अहम् और मम मिट कर प्रेम और प्रेमास्पद ही शेप रहता है, पर प्रेमी नही रहता। प्रेमी रहित प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। प्रेम का प्रादुर्भाव

ही सर्वतोमुखी विकास है। इसका अर्थ यह नही है कि प्रेम ही प्रेमास्पद है। प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव और मानव की माँग है। अहता और ममता-जनित परिच्छिन्नता तथा आसक्ति का अभाव होने पर ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। प्रेम किसी करण की अपेक्षा नही रखता इस कारण प्रेम में पराधीनता नही है। प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर कुछ भी करना तथा पाना शेष नही रहता। इस कारण प्रम की अभिव्यक्ति में ही चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता है। पर प्रेम-तत्त्व विश्राम तथा स्वाधीनता में आवद्ध नही होता। जिस प्रकार फल की वाटिका का मूल्य चुकाने पर वाटिका की छाया, सुगधि स्वत. प्राप्त होनी है, उसी प्रकार प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर चिर विश्राम तथा स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। प्रेम प्रेमास्पद को रस प्रदान करता है और विश्राम तथा स्वाधीनता अपने लिए उपयोगी होती है किन्तु प्रेम के पुजारी में अपने लिए कुछ भी पाना नही रहता। इस कारण विश्राम, तथा स्वाधीनत। स्वतः प्रेम से अभिन्न होती है। विश्राम तथा स्वाधीनता का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नही रहता। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम से भिन्न कुछ नही है। प्रेम ही मे प्रेमास्पद का नित्य वास है और प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

जब यह स्पष्ट विदित ही है कि प्रतीति का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है, अपितु एक गति है जो प्रतीति के रूप मे भासती है, तो प्रतीति का आकर्षण नाश होते ही प्रतीति स्वय उसमें विलीन होती है जिसकी वह प्रतीति है। जब प्रतीति अपने उद्‌गम में विलीन हो जाती है तब अहम् स्वयं गति होकर उससे अभिन्न होता है जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से अहम् और मम का सदा के लिए अन्त हो जाता है और उसके नाश में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रतीति का आकर्षण शेष नही रहता। प्रतीति का आकर्षण रहने पर

तो उसी की ओर गति रहती है जिसका अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से प्रतीति के आकर्षण मे ही अभाव की अनुभूति है। अभाव स्वभाव से किसी भी मानव को अभीष्ट नही है। अभाव की भूमि मे ही पूर्णता की माँग जाग्रत होती है जो वास्तविकता से अभिन्न करने मे समर्थ है।

'नही' को 'नही' अनुभव करने पर ही 'है' की माग और असत् को असत् जान लेने पर ही सत् की जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं जब देखे हुए का अस्तित्व सिद्ध नही होता तब सुने हुए मे आस्था होती है, बस यही आस्तिक दर्शन का उद्गम है।

यद्यपि आस्था की माँग मानवमात्र में स्वभाव सिद्ध है किन्तु इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि के आधार पर मानव सृष्टि मे आस्था स्वीकार करता है। परन्तु प्रवृत्तियो के परिणाम पर जब विचार करता है तो उसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसकी ओर दौड़ते हों और न पकड पाते हो और अन्त में असमर्थता का अनुभव करते हो, वही ससार है। जिसकी प्राप्ति ही नही है उसकी आस्था कुछ अर्थ नही रखती अर्थात् सृष्टि की सत्ता को स्वीकार करना भ्रममूलक ही है। पर जब मानव दृश्य से विमुख हो अपने ही मे सतुष्ट होता है तब वह अपनी आस्था स्वीकार करता है और फिर उसे समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था भासित होती है अर्थात् जो सभी अवस्थाओ से अतीत है वही सभी अवस्थाओ मे भी है। पर अवस्था-जनित तादात्म्य परिच्छिन्नता मे आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नही होता। भेद भय को और भिन्नता सघर्ष को जन्म देती है अर्थात् भिन्नता से ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष मे आबद्ध मानव पराधीनता एव क्षोभ मे आबद्ध रहता है। पराधीनता चिन्मय जीवन से और क्षोभ समता से अभिन्न नही होने देता। इस दृष्टि से राग द्वेष युक्त वस्तु-स्थिति किसी को भी चैन से नही रहने देती। परन्तु भेद और भिन्नता के रहते हुए राग द्वेष का

अन्त सम्भव नही है। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता किसी को भी अभीष्ट नही है, उसका अन्त करना अनिवार्य है। परिच्छिन्नता का नाश निराश्रय तथा अप्रयत्न के बिना सम्भव नही है। वस्तु, अवस्था आदि का आश्रय मिटने पर निष्कामता तथा निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है और फिर अप्रयत्न होने पर ही परिच्छिन्नता का नाश होता है। इस दृष्टि से अहम् से अतीत की आस्था ही वास्तविक आस्था है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जव 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता का बोध हो। इन दोनो में से किसी एक की वास्तविकता का परिचय होने पर दोनो ही का स्पष्ट बोध हो जाता है।

दृश्य का राग जिसमें है वह 'मैं' दृश्य की ही जाति का है। राग रहित होने पर समस्त दृश्य अपने अधिष्ठान से अभिन्न हो जाता है; कारण, कि राग के होते हुए दृष्टि दृश्य से विमुख नही होती और उसके विना हुए दृष्टि अपने उद्गम मे विलीन नही होती। जव दृष्टि अपने उद्गम में विलीन हो जाती है तब उसकी गति उसकी ओर होती है जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है उसे कोई भले ही अहम् के रूप मे अनुभव करे किन्तु अहम् भी वास्तव मे उसी की एक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से सभी में सत्ता रूप से वही है जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक मे किसी प्रकार की एकदेशीयता तथा परिच्छिन्नता नही हो सकती। उसमें एकदेशीयता तथा परिच्छिन्नता का आरोप करना कर्ता का ही चमत्कार है। वह वास्तविकता नही है। वास्तविकता का परिचय तो अहम् और मम के नाश मे ही निहित है। राग रहित भूमि मे ही सर्वतोमुखी विकास निहित है; कारण, कि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति राग रहित होने से स्वत होती है। अपने मे अपना करके कुछ भी मानने पर कोई भी मानव किसी भी प्रकार राग रहित नही हो सकता और उसके बिना हुए वास्तविकता का बोध नही होता। इस

कारण राग का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र दृश्य के यथार्थ ज्ञान से ही सम्भव है। दृश्य का वास्तविकता का परिचय दृश्य से विमुख होने पर ही होता है। दृश्य की विमुखता एकमात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है।

देखे हुए और किए हुए का प्रभाव जब तक अकित है तब तक स्वाभाविकता में प्रतिष्ठा नही होती और उसके बिना हुए वास्तविकता का परिचय नही होता अर्थात् निस्सन्देहता नही आती। देखा हुआ मिला नही, किया हुआ रहा नही किन्तु उसकी स्मृति मात्र अंकित है। यदि कुछ काल के लिए देखना और करना वन्द कर दिया जाय अर्थात् न देखने और न करने को अपना लिया जाय तो भूतकाल के देखे हुए और किए हुए का जो प्रभाव अकित है वह स्वत. प्रगट होगा। उस दृश्य से सहयोग तथा तादात्म्य स्वीकार न करने पर उत्पन्न हुआ चिन्तन अपने आप मिट जायगा और फिर स्वत. स्वाभाविकता के साम्राज्य में प्रवेश होगा। जिसके होते ही वास्तविकता से अभिन्नता प्राप्त होती है और फिर मानव स्वतः निस्सन्देह हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि किए हुए का परिणाम जो कुछ भी हो पर वह सदैव नही रहता। जो सदैव नही रहता वह जीवन नही है अर्थात् वह लक्ष्य नही है। इस दृष्टि से लक्ष्य की प्रप्ति में 'किया हुआ' हेतु नही है। करने का सम्बन्ध पर-हित मे भले ही हो पर उससे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नही होती, पर फिर भी मानव में करने का राग है। करने के राग-निवृत्ति-मात्र के लिए ही करना है, पर वह तभी सम्भव होगा जव कर्म-सामग्री तथा कार्य-क्षेत्र में ममता न रहे और न फलासक्ति ही। निर्ममता तथा फलासक्ति रहित प्रवृत्ति से ही सहज-निवृत्ति आती है जो स्वाभाविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। अस्वाभाविकता ने ही पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में मानव को आवद्ध किया है। इस कारण से अस्वाभाविकता का अन्त करना

अनिवाय है, जो एकमात्र अचाह तथा अप्रयत्न से ही साध्य है। चाह रहित होते ही स्वत: वर्तमान कार्य पूरा करने की सामर्थ्य आती है। चाह युक्त मानव वर्तमान कार्य को विधिवत् नही कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि कार्य करते रहने पर भी करने का राग नाश नही होता जो अवनति का मूल है। करने का राग रहते हुए अप्रयत्न होना सम्भव नही है। और अप्रयत्न हुए विना सीमित अहम् भाव का नाश नहीं होता, उसके विना हुए भेद तथा भिन्नता का अन्त नही होता। भेद तथा भिन्नता के रहते हुए वास्तविकता से अभिन्नता नही होती। वास्तविकता से अभिन्नता विना हुए वास्तविकता का वोध सम्भव नही है, कारण, कि प्रतीति से विमुख हुए बिना दृश्य की यथार्थता स्पष्ट नही होती और 'है' से अभिन्न हुए विना 'है' का वोध नही होता। इस दृष्टि से 'यह' के परिचय मे ही 'मैं' का परिचय और 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता के अनुभव में ही 'है' की प्राप्ति, 'है' का वोध और 'है' की प्रियता निहित है।

अस्वाभाविकता सम्भव में असम्भव और असम्भव में सम्भव का भास कराती है। इस दृष्टि से अस्वाभाविकता के रहते हुए जो सम्भव है, उसमें आस्था नही होती और जो असम्भव है उससे मानव निराश नही होता। उसका वडा ही भयकर परिणाम यह होता है कि न तो अपने जाने हुए का प्रभाव ही अपने पर होता है और न सुने हुए में अविचल आस्था ही होती है और न जो कर सकते है और करना चाहिए उसे कर ही पाते है। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र अस्वाभाविकता का अन्त करना अनिवार्य है। 'है' की प्राप्ति और 'नही' की निवृति सम्भव है। 'नही' की प्रतीति है, पर प्राप्ति नही और जो 'है' उसकी प्राप्ति होती है प्रतीति नही। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि दृश्य से विमुख हुए बिना नित्य-प्राप्त में आस्था ही नहीं होती। जिसमें आस्था नही होती उसमें आत्मीयता नही होनी. और जिससे आत्मीयता नहीं होती। उसकी प्रियता

जाग्रत नही होती और प्रियता के बिना दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त नहो होता। दूरी के नाश में ही योग और भेद के नाश में ही बोध तथा भिन्नता के नाश मे ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से प्रेम, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति आत्मीयता से ही साध्य है।

दृश्य का राग, जो दृश्य से विमुख नही होने देता, किसमे है ? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दृश्य का राग दृश्य मे नही हो सकता और न दृश्य के प्रकाशक मे। दृश्य का राग उसी मे है जिसने दृश्य मे ममता और दृश्य की कामना स्वीकार की है। उसका नाम अहम् हो सकता है; कारण, कि अहम् के विना मम और मम के विना कामना उत्पन्न ही नही होती। इस दृष्टि से अहम् और मम की वास्तविकता का दर्शन किए विना दृश्य से विमुख होना सम्भव नही है। जिसमे दृश्य की ममता तथा कामना है उसी मे जिज्ञासा भी है और उसी की कोई माँग भी है। ममता, कामना, जिज्ञासा और माँग जिसमे है, वही अपने को 'मैं' कह कर सम्बोधित करता है। ममता, कामना के नाश में ही जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य है और निस्सन्देह होने मे ही अविचल आस्था तथा आत्मीयता है। आत्मीयता में ही अगाध अनन्त, नित-नव प्रियता की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि 'मैं' वही है जो दायित्व पूरा कर सकता है और जिसकी माँग पूरी होती है। ममता, कामना के त्याग का दायित्व उस पर है। दायित्व पूरा करते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वत. होती है अर्थात् काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति, प्रेम की प्राप्ति जिसको होती है वही 'मैं' है।

अब यदि कोई यह कहे कि मुझे दृश्य का राग अभीष्ट नही है, अत. ममता, कामना, तादात्म्य के त्याग से निर्विकारता, परम-शान्ति, अपरिच्छिन्नता से अभिन्न होना है। क्या जिससे अभिन्न होना है, उसका स्वतत्र अस्तित्व है ? यदि है तो 'मैं' क्या उसकी प्रियता से

भिन्न कुछ और है ? प्रियता में अस्तित्व किसका होता है ? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रियता जिसकी हे उसमें अस्तित्व उसी का है। अपना अस्तित्व स्वीकार कर के प्रियता की अभिव्यक्ति ही नही होती अपितु जिसने निर्विकारता आदि से अर्थात् अपनी मॉग से भिन्न अपना अस्तित्व स्वीकार किया उसमें आसक्ति हो सकती है प्रियता नही। आसक्त आसक्ति से भिन्न भी रहता है। किन्तु प्रियता जिसमें होती है उसका अस्तित्व प्रियता नही है। आसक्ति और प्रियता में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति उसको अपने से अभिन्न नही कर पाती जिसमे आसक्ति है और जिसके प्रति आसक्ति होती है उसके काम नही आ पाती; कारण, कि आसक्ति भोग की जननी है। कोई भी भोक्ता भोग्य वस्तु के काम नही आता, अपितु भोक्ता के द्वारा भोग्य वस्तु का विनाश ही होता है, किन्तु प्रियता जिसके प्रति होती है उसके लिए रस-रूप होती है और उसका विनाश नही करती, अपितु प्रियता अपने को ही प्रियतम से अभिन्न करती है। अत. आसक्ति और प्रियता का भेद स्पष्ट होने पर यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि सर्वांश मे आसक्ति का नाश होने पर भोक्ता का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही रहता, अपितु जिसका स्वतत्र अस्तित्व है उसकी प्रियता रहती है। स्वतत्र तथा अविनाशी एवं अनन्त और चिन्मय की प्रियता भी उसकी जाति की है, पर उसका कोई अपना करके अस्तित्व नही है।

अब यदि कोई यह कहे कि समस्त दृश्य की ममता, कामना एव तादात्म्य के कारण मुझ में जड़ता, पराधीनता, अभाव आदि दोषों की उत्पत्ति हो गई थी, पर जब विवेक पूर्वक ममता, कामना, तादात्म्य का अन्त कर दिया तब 'मैं' स्वय निर्विकार, शान्त, स्वाधीन तथा अपरिच्छिन्न हो गया। अब विचार यह करना है कि यदि निर्विकारता, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता आदि तुम्ही सब थे तो तुमने ममता, कामना आदि विकारो को क्यो स्वीकार किया ? क्या यह

कभी सम्भव है कि कोई स्वाधीन होते हुए पराधीनता, चिन्मय होते हुए जडता, पूर्ण होते हुए अभाव, परम-शान्त होते हुए अशान्ति और अपरिच्छिन्न होते हुए परिच्छिन्नता को अपनाये ? कदापि नही। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसमें आसक्ति आदि दोष हैं, वह उसकी जाति का है जिसकी उसने आसक्ति स्वीकार की थी। आसक्ति और आसक्त-पदार्थों का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नही होता। अत आसक्ति और आसक्त इन दोनो का ही अभाव है। यदि यह स्वीकार न किया जाय तो आसक्ति आदि दोषो की निवृत्ति की बात सिद्ध नही होती और आसक्ति आदि दोषों की किसी को माँग नही होती। अत. स्वतंत्र अस्तित्व उसी का है जिसकी माँग है। उसको स्वीकार न करने पर भी उसकी प्राप्ति है। यह उसकी महिमा है और जिनकी आसक्ति है उनके अस्तित्व को स्वीकार करने पर भी उनकी प्राप्ति नही है, यह उनकी महिमा है। अत· आसक्ति का अंत करके निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता, अगाध-प्रियता आदि से अभिन्न होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। 'है' को अस्वीकार करने पर भी उसकी निवृत्ति नही होती और 'नही' को स्वीकार करने पर भी उसकी प्राप्ति नही होती। प्रतीति है पर प्राप्ति नही, उसी को 'यह' अर्थात् 'नही' करके सम्बोधन करते हैं। प्राप्ति है प्रतीति नही, उसी को 'है' करके सम्बोधन करते है। 'नही' की ममता और 'है' की माँग जिसमे है उसी को 'मैं' करके सम्बोधन करते है। ममता की निवृत्ति होने पर माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर अहम् जैसा कोई स्वतंत्र अस्तित्व भासित नही होता। ममता आदि दोषो के रहते हुए ही अहम् का भास होता है। 'यह' कुछ नही, 'मैं' कुछ नही, यह मानव-दर्शन से सिद्ध है। अब यदि कोई कहे कि 'यह' कुछ नही 'मैं' कुछ नही और इन दोनों से भिन्न 'है' भी कुछ नही, तो यह अहम् की आवाज है अर्थात् उसकी आवाज है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नही है। 'नही' को 'नही' अनुभव करते

ही 'है' की प्राप्ति स्वतः होती है। 'है' का मानना तथा जानना उतना आवश्यक नहीं है जितना प्राप्त करना। मानने और जानने की बात साधन रूप चर्चा है। जो न मानने तथा न जानने पर भी ज्यों का त्यों है, उसी की प्राप्ति मानव को अभीष्ट है।

—. ० —

४

पथ-विवेचन

जब मिला हुआ और देखा हुआ अपने को सन्तुष्ट नही कर पाता, तव स्वभाव से ही बिना जाने हुए में आस्था होती है। आस्था स्वय श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता के स्वरूप मे परिणत हो प्रियता प्रदान करती है। प्रियता जिसमे उदित होती है उसके लिए तो रस-रूप है ही, पर जिसके प्रति होती है उसे भी रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रियता की बड़ी महिमा है। अब यदि कोई यह कहे कि बिना जाने आस्था कैसी ? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जानने पर तो आस्था की अपेक्षा ही नही होती, कारण, कि असत् के ज्ञान मे असत् की निवृत्ति और असत् की निवृत्ति मे सत् की प्राप्ति होती है। अत. आस्था सदैव उसी में होती है कि जिसकी आवश्यकता तो हो, पर जिससे परिचित न हों। इस दृष्टि से आस्था स्वयं एक स्वतंत्र पथ है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि को अधूरा ज्ञान अनुभव करता है। अधूरे ज्ञान से जिज्ञासा जाग्रत होती है, आस्था नही। आस्था एकमात्र उसी मे हो सकती है, जिसे कभी भी इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से अनुभव नही किया। बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को नाश कर स्वतः सम हो जाती है जिसके सम होते ही जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार और कर्तव्य-पालन के लिए सामर्थ्य तथा नित-नव रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। विचार, सामर्थ्य तथा प्रीति के स्वरूप मे जिसका अवतरण होता

है, वह 'यह' और 'मैं' से भिन्न है। इतना ही नही 'यह' और 'मैं' उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और उसी के आश्रय से सत्ता पाते है। उसकी प्राप्ति एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता में ही निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक कार्य अपने कारण मे विलीन हो सकता है, उसे विपय नही कर सकता। इस दृष्टि से यह सब कुछ अर्थात् 'यह' और 'मैं' जिसका कार्य है वह अपने कारण से अभिन्न हो सकता है पर उसको विषय नही कर सकता। जिसको विषय नहीं कर सकते उसमें आस्था कर सकते है। इस दृष्टि से आस्था स्वतंत्र पथ है।

यह सभी को मान्य होगा कि कोई भी उत्पत्ति अनुत्पन्न तत्व के बिना हो नही सकती और कोई भी प्रतीति विना किसी प्रकाशक के प्रतीत नही हो सकती। इस कारण समस्त विश्व की उत्पत्ति के मूल में कोई अनुत्पन्न हुआ तत्व है और प्रतीति का प्रकाशक है पर उसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से नही देखा। जिसे देखा तो नही है, पर उसकी माँग है, इस कारण विना जाने हुए मे आस्था अनिवार्य है।

जब मानव अपने में किसी न किसी प्रकार का अभाव अनुभव करता है और उस अभाव का अभाव किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा नही होता, तव विवश होकर उसमें आस्था करता है, जो अभाव के अभाव में समर्थ है; कारण, कि माँग उसी की होती है जिसका स्वतत्र अस्तित्व है, पर उसका अनुभव नही है। अत: उसमें आस्था अनिवार्य है।

संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त करने में क्या कोई परिस्थिति समर्थ है? कदापि नही। क्या सयोग की दासता तथा वियोग का भय मानव की समस्या नही है। अवश्य है। क्या वह समस्या हो सकती है, जिसका हल न हो? कदापि नही। यदि समस्या है तो उसका हल भी है। इस समस्या के हल करने के लिए

सुने हुए मे आस्था करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। यद्यपि संयोग से वियोग और वियोग मे अभाव का विचारपूर्वक अनुभव करने में नित्य-योग की प्राप्ति होती है, परन्तु वह विचार किस की देन है ? इस दृष्टि से भी यह स्पष्ट विदित होता है कि मानव की मॉग की पूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री जिससे प्राप्त होती है, वह सभी का अपना है उसके न मानने तथा न जानने पर भी उसकी अहैतुकी कृपा स्वत वास्तविक मॉग की पूर्ति के लिए आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है। इस दृष्टि से भी यह विदित होता है कि कोई अपना है जिसे हम नही जानते पर जो हमें जानता है उसमें आस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। विवेक-विरोधी विश्वास त्याज्य है। पर विश्वास के लिए यह आवश्यक नही है, कि विवेक का समर्थन हो। उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था आदि का विश्वास विवेक-विरोधी है; कारण, कि उत्पत्ति विनाश का क्रम सतत् है। उसकी स्थिति ही नही है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नही होती उसमे विश्वास करना भूल है। पर जो उत्पत्ति विनाश का आश्रय तथा प्रकाशक है, उसमें अविचल आस्था रखना विवेक-विरोधी नही है। इतना ही नही, विवेकरूपी प्रकाश जिस से मिला है, उसका समर्थन विवेक-सिद्ध नही है। अत. विवेक-विरोधी विश्वास को त्याग वास्तविक आस्था स्वीकार करना अनिवार्य है। वास्तविक आस्था उसी मे हो सकती है जिसकी मॉग तो है पर उसे इन्द्रिय, बुद्धि-दृष्टि आदि से देखा नही है।

कोई भी मिल्कियत वे मालिक की और कोई उत्पत्ति बिना आधार के नही होती। तो फिर विश्व का कोई मालिक नही है तथा उत्पत्ति का कोई आधार नही है, यह कैसे हो सकता है ? हॉ, यह अवश्य है कि जो सब का मालिक तथा आधार है, वह इतना उदार है कि उसमे यदि कोई आस्था न करे, अथवा उसे कोई न माने तब भी वह सभी का अपना है। पर अपने में आस्था न करना, सनाथ

होने पर भी क्या अपने को अनाथ नही करना है ? क्या यह अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश नही है ? अर्थात् अवश्य है। अपना होने से ही अपने को प्रिय है। हम उसे जाने, न जाने इससे कोई अन्तर नही होता। अपने मे अपनी प्रियता स्वभाव सिद्ध है। प्रियता की जाग्रति मे नीरसता का नाश है, नीरसता के नाश होते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति स्वत होती है, कारण, कि समस्त विकार नीरसता की भूमि में ही उत्पन्न होते हैं। नीरसता का अत्यन्त अभाव एकमात्र प्रियता मे ही निहित है और प्रियता आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही होती है। इस दृष्टि से आस्था सर्वतोमुखी विकास मे समर्थ है।

समस्त विश्व किसी की ओर दौड रहा है। प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही गतिशील है। गतिशीलता मे किसी का आकर्षण है। सभी का आकर्षण उसी के प्रति हो सकता है जो 'है'। इस दृष्टि से भी 'है' को न जानने पर भी 'है' में आस्था होती है। इतना ही नही प्रत्येक मानव का यह अपना अनुभव है कि उसकी कोई माँग है। वह प्रमाद-वश भले ही उस माँग को अनेक कामनाओं मे बदलने का प्रयास करे, किन्तु ऐसी कोई भी इच्छित वस्तु नही है जिससे अरुचि न हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस रुचिकर की माग है उसे इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नही है। इन्द्रिय-दृष्टि आदि से देखे हुए रुचिकर पदार्थो से स्वतः उपरामता आती है और माँग शेष रहती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि माँग उसी की है जिसे जानते नही अत उसमे आस्था अनिवार्य है। 'नही' की माँग नही होती, न हो और प्रतीत हो उसमें आसक्ति होती है उसकी कामना होती है। किन्तु माँग उसकी होती है जिसका स्वतत्र अस्तित्व है। अतः जिसका स्वतत्र अस्तित्व है, यद्यपि उसे देखा नही है, परन्तु उसमें आस्था करना अनिवार्य है। इन्द्रिय-दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं मे जो सौन्दर्य प्रतीत

होता है वह किसी कारीगर की महिमा गाता है। यदि वस्तुओं का अपना स्वतंत्र सौन्दर्य होता, तो उनमे परिवर्तन न होता। सतत् परिवर्तन यह सिद्ध करता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं को किसी से सौन्दर्य मिला है। मानव प्रमादवश सौन्दर्य को वस्तुओं में आरोप कर लेता है और परिणाम में वस्तुओं की दासता मे आबद्ध होता है। वस्तुएँ मिट जाती हैं, दासता रह जाती है, जो किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नही है। इन्द्रिय-दृष्टि के आधार पर भी उस अनन्त सौन्दर्य मे आस्था हो सकती है जिससे सभी को सौन्दर्य मिलता है। मिले हुए सौन्दर्य मे आबद्ध होना अनन्त सौन्दर्य से विमुख होना है। अनन्त सौन्दर्य की माँग उत्तरोत्तर बढती रहे, तो स्वभाव से ही उसमे आस्था होती है, जिसे देखा नही, पर उसकी माँग है।

अनन्त सौन्दर्य से विमुख होकर ही मानव सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य में आबद्ध होता है जो विनाश का मूल है। सतत् गतिशीलता यह सिद्ध करती है कि वह किसी से मिलने के लिए आकुल तथा व्याकुल है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि किसी अपरिचित की ओर तीव्र गति से जा रही है। यदि उसमे मानव आस्था करले तो बडी सुगमता-पूर्वक उसकी प्रियता होकर उससे अभिन्न हो सकता है। खोज करते-करते जब तक खोज-कर्त्ता अपने को खो नही बैठता तब तक उससे अभिन्न नही होता जिसे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक बडी ही सुगमता पूर्वक प्राप्त कर लेता है, कारण, कि खोज मे मिली हुई सीमित शक्तियों का अभिमान रहता है, जिसके रहते हुए असीम तथा अनन्त से अभिन्नता सम्भव नही है। आत्मीयता से जाग्रत प्रियता अभिमान का अन्त कर वास्तविकता से अभिन्न कर देती है, जो आस्था मात्र से ही साध्य है।

जब तक मानव अपने देह-जनित सीमित स्वभाव मे आबद्ध रहता है तब तक उसे बिना देखे मे आस्था नही होती किन्तु देह आदि वस्तुओं की वास्तविकता जान लेने पर जब मानव देह जनित स्वभाव

से अपने को असन्तुष्ट पाता है तब उसे विवश होकर उसमें आस्था करनी पडती है कि जिसे देखा नही है। यदि ऐसा न होता तो दुःख, पराधीनता, जडता तथा अभाव से पीडित प्राणी उस अलौकिक जीवन की माँग ही न करता जिसे देखा नही है। माँग उसी की होती है जिसे देखा नही है और कामना उसकी होती है जिसे देखा है। माँग पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील करती है और कामना पराधीनता में आबद्ध रखती है। इस दृष्टि से कामना और माँग में भेद है। कामनाओं से भिन्न माँग का होना, इस बात को सिद्ध करता है कि इच्छित वस्तुओं से अतीत भी कोई अपना है। अपने में अपनी आस्था न करना अपनी ही भारी भूल है। कामना रहित होते ही स्वतः उसकी ओर प्रगति होती हे जो सृष्टि का उद्‌गम है। सृष्टि का मूल बीज अहम् है। उसी मे माँग है। माँग की पूर्ति जिससे होती है, वही सभी का सब कुछ है और उसी मे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना है। आत्मीयता अहम् को अगाधप्रियता में परिणत कर देती है और फिर प्रियता से अभिन्न हो मानव उसके लिए उपयोगी सिद्ध होता है जिसमें उसने आस्था की है।

आस्था अपने प्रेमास्पद के लिए उपयोगी होती है और विचार अपने लिए उपयोगी होता है। विचार-पथ का पथिक पराधीनता, जडता, अभाव से रहित हो स्वाधीनता, चिन्मयता एव पूर्णता को प्राप्त कर कृत-कृत्य होता है। किन्तु आस्थापूर्वक मानव उसके लिए उपयोगी होता है जिसने विचार प्रदान किया है। वस्तु योग्यता, सामर्थ्य का दाता जो है उसी में आस्था करना है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग अपने लिए हितकर है और आस्था उनके लिए हितकर है जिन्होंने सभी को सब कुछ प्रदान किया है। अर्थात् अपने दाता के लिए वही उपयोगी होता है जो अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक दाता में आत्मीयता स्वीकार करता है। यह सभी को स्पष्ट विदित है कि मिली हुई कोई भी वस्तु किसी की व्यक्तिगत नही है। जब

व्यक्तिगत नही है तब उसका कोई दाता है। मिली हुई वस्तुओं में ममता करना और दाता को अपना न मानना, यह कहाँ तक न्याय युक्त है ? वास्तविकता तो यह है कि दाता अपना है, वस्तुएँ उसकी हैं। उसकी दी हुई वस्तुओ के द्वारा ही विश्व की सेवा होती है और आत्मीयता के द्वारा ही दाता मे प्रीति होती है। सेवा मानव को जगत् के लिए और प्रीति जगत्-पति के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। सेवा और प्रीति की अभिव्यक्ति होने पर कुछ करना तथा पाना शेष नही रहता; कारण, कि समस्त कर्तव्यो की परावधि सेवा मे और समस्त प्राप्ति की पराकाष्ठा प्रीति मे निहित हैं। प्रीति के समान और कोई अलौकिक महान् तत्व नही है, कारण, कि प्रीति मानव को विभु कर देती है। महान् की प्रीति महान् को मोहित करती है, इस दृष्टि से प्रीति के समान और कोई अनुपम, अलौकिक तत्व नही है, जो एकमात्र आस्था से ही साध्य है। करने, पाने का अन्त होने पर सीमित अहम्-भाव स्वत. नाश हो जाता है, कारण, कि करने, पाने का प्रलोभन ही परिच्छिन्नता को जीवित रखता है। इस दृष्टि से सेवा तथा प्रीति की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

अचाह तथा अप्रयत्न हुए बिना आस्था सजीव नही होती, कारण, कि कामना तथा अहङ्कृति-युक्त मानव उसमे आस्था कर ही नही पाता जो उसकी उत्पत्ति से पूर्व है। क्या किसी ने उसको जाना है जो उसका प्रकाशक तथा आश्रय है ? कदापि नही। पर प्रत्येक मानव उसे प्राप्त कर सकता है जो उसका आधार तथा प्रकाशक है। उसकी प्राप्ति उसकी प्रियता मे ही निहित है, जिज्ञासा मे नही। जिज्ञासा उसका बोध कराती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। ज्ञान असत् का होता है। प्राप्ति सत् की होती है। अत आस्थापूर्वक ही आत्मीयता प्राप्त होती है, जो प्रियता की जागृति में हेतु है और प्रियता ही एकमात्र उसकी प्राप्ति का साधन है जो उसकी उत्पत्ति से पूर्व अनुत्पन्न हुआ है, यद्यपि प्रत्येक उत्पत्ति उसी से सत्ता पाती है, जिससे

वह उत्पन्न हुई है। इतना ही नही, वह सदैव रहती भी उसी में है फिर भी उसे नही जानती। किन्तु मॉग उसी की रहती है। इस कारण ग्रास्थापूर्वक ही उसे प्राप्त किया जा सकता है जो सभी का सव कुछ है ग्रौर सभी से ग्रतीत है तथा जो सर्व है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'नही' की निवृत्ति मे विचार ग्रौर 'है' की प्राप्ति में ग्रास्था ही समर्थ है। 'नही' की निवृत्ति ग्रपने लिए हितकर है पर 'है' कि ग्रास्था 'है' के लिए उपयोगी है। 'नही' की निवृत्ति करने के लिए उसी 'है' से मानव को विचार मिला है ग्रौर उसी ने ग्रास्था दी है। 'है' की दी हुई ग्रास्था से ही 'है' में ग्रात्मीयता ग्रौर 'है' के दिये हुए विचार से ही 'नही' की निवृत्ति होती है। 'नही की निवृत्ति होने पर दु ख-निवृत्ति, परम-शान्ति ग्रौर स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है, जो ग्रपने लिए उपयोगी है। जो मानव केवल ग्रपने लिए ही उपयोगी होना चाहता है, उसे ग्रास्था करना ग्रावश्यक नही है। ग्रास्था एकमात्र उन्ही के लिए ग्रपेक्षित है जो ग्रपने को दाता के लिए उपयोगी करना चाहते हैं ग्रर्थात् जिसने सभी को सव कुछ दिया है उसके लिए उपयोगी होने की उत्कट लालसा जिनमें है, वे ही मानव ग्रास्था के ग्रधिकारी है।

ग्रपने लक्ष्य का निर्णय होने पर ही ग्रपने पथ का निर्माण होता है। लक्ष्य की विस्मृति विकल्प-रहित पथ का निर्माण नही होने देती। वर्तमान वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान लक्ष्य के निर्णय में समर्थ है। जिस मानव ने यह ग्रनुभव किया है कि कोई भी वस्तु, ग्रवस्था, परि-स्थिति ग्रादि मुझे सन्तुष्ट नही कर सकती वही दु.ख निवृत्ति, शान्ति ग्रौर स्वाधीनता को ग्रपना लक्ष्य मानता है। पर जिसे स्वाधीनता भी चैन नही दे पाती, वही दाता के लिए उपयोगी होने के लिए बिना जाने ही उनमें ग्रविचल ग्रास्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक ग्रात्मीयता स्वीकार करता है। ग्रथवा यों कहो कि प्राप्त शान्ति स्वाधीनता को समर्पित कर ग्रास्था पाता है। इस दृष्टि से ग्रास्था बड़े ही महत्त्व

की वस्तु है।

बुद्धिवादी अर्थात् बुद्धि के दास आस्था के साम्राज्य में प्रवेश नही पाते, अपितु बुद्धि जिनकी दासी है वे ही आस्था के पथ के पथिक होते है। बुद्धि उन्ही की दासी होती है जो शान्ति में रमण नही करते और स्वाधीनता मे सन्तुष्ट नही होते। इस दृष्टि से आस्था का साम्राज्य बुद्धि से परे है। बुद्धि का क्षेत्र प्रतीति की ओर गतिशील होने में है। जब मानव विषयो से विरक्त होता है तव बेचारी बुद्धि स्वत. सम हो जाती है। विषयासक्ति के रहते हुए ही बुद्धि का शासन मन, इन्द्रियों आदि पर रहता है। आसक्ति रहित होते ही मानव बुद्धि से शासित नही रहता। जब मन बुद्धि के अधीन होता है, तब इन्द्रियाँ विषय विमुख होकर मन में विलीन होती है और फिर मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है। तत्पश्चात् बुद्धि के लिए कोई भी कार्य नही रह जाता और वह स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि की समता सामर्थ्य की प्रतीक है। जिज्ञासु में विचार का उदय और आस्थावान में प्रीति की जाग्रति बुद्धि के सम होने पर ही होती है। बुद्धि करण है कर्ता नही। उसका उपयोग किया जाता है। बुद्धि के उपयोग से मानव इन्द्रिय-दृष्टि पर विजयी होता है अर्थात् इन्द्रिय-जनित प्रभाव शेष नही रहता, बस यहीं तक बुद्धि का क्षेत्र है। आस्था 'स्व' के द्वारा होती है उसके लिए कोई करण अपेक्षित नही है। आस्था अपने को करना है, उसके लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की अपेक्षा नही है। अपितु आस्था का प्रभाव स्वत. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होता है; कारण, कि करण कर्ता पर ही आश्रित रहते हैं। कर्ता के शुद्ध होने पर करण स्वत शुद्ध हो जाते है। और फिर कार्य में भी शुद्धता आ जाती है। कार्य, करण और कर्ता में कर्ता का ही चमत्कार है। जिसने आस्था स्वीकार की है, वह कोई करण नहीं है अपितु कर्ता है। ज्यों-ज्यो कर्ता निर्मम तथा निष्काम होता जाता है त्यो-त्यो उसमें सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से अतीत

के जीवन की माँग जाग्रत होती जाती है। अवस्था आदि से परे के जीवन में आस्था तथा उसकी आवश्यकता उसकी प्राप्ति से पूर्व ही होती है। जिज्ञासा उसके सम्बन्ध में नही होती जिसके सम्बन्ध में कुछ नही जानते अर्थात् अधूरी जानकारी में ही सन्देह की वेदना तथा जिज्ञासा की जाग्रति होती है। इस दृष्टि से जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से गोचर है उसी के प्रति जिज्ञासा होती है और जो इन्द्रिय आदि से अगोचर है उसमें आस्था होती है। दृश्य की वास्तविकता का बोध दृश्य से विमुख कर दृश्य के उद्‌गम से अभिन्न करता है और दृश्य से अतीत के जीवन की माँग मानव में आस्था जाग्रत करती है। उसमें कभी आस्था नही होती जिसकी माँग नही है। उसमें कभी सन्देह नही होता जिसकी प्रतीति तथा भास नही है। अतः माँग की पूर्ति आस्था मे ही निहित है और निस्सदेहता जिज्ञासा की जाग्रति में। जिज्ञासा उसकी नही है जिसकी माँग है। जिज्ञासा तो प्रतीति और भास के प्रति ही होती है। समस्त परिवर्तनशील जगत् प्रतीति के अन्तर्गत है और सीमित अहम्-भाव का भास है। अतः जगत् और अपने सम्बन्ध मे ही जिज्ञासा होती है जिसकी माँग है और जो जगत् से अतीत है उसी में आस्था होती है। उससे भिन्न की आस्था आसक्ति की जननी है जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से आस्था एकमात्र उसी मे हो सकती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है। अर्थात् जो सदैव अपना है और जिसकी प्रियता ही अपना जीवन है वही श्रद्धास्पद है।

जिसमें किसी प्रकार के दोष की अनुभूति होती है, उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास सम्भव नही है। अब यह विचार करना है कि दोष का दर्शन किस मे नही होता। इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दोष की अनुभूति उसी मे नही होती जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अगोचर है और जिसकी माँग है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि अपनी माँग की पूर्ति जिससे साध्य है, उसी

में आस्था होती है। जो मानव अपनी माँग से अपरिचित है, उसमें आस्था का प्रादुर्भाव नही होता। अपनी माँग से वही अपरिचित है, जो परिस्थितियों में ही जीवन-वुद्धि स्वीकार करता है। परिस्थितियों में जीवन-वुद्धि वही स्वीकार करता है, जो वर्तमान वस्तुस्थिति से अपरिचित रहता है। वर्तमान वस्तुस्थिति से वही अपरिचित रहता है जो जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित नही है, अपितु देखे हुए तथा किये हुए में ही आसक्त है। देखे हुए तथा किए हुए की आसक्ति मानव को जड़ता मे आबद्ध करती है। जाने हुए का प्रभाव देखे हुए मे सन्देह और किये हुए के परिणाम का वोध कराने मे समर्थ है। देखे हुए का सन्देह जिज्ञासा जाग्रति में हेतु है और किये हुए के परिणाम का प्रभाव उसकी ओर गतिशील करता है जो नित्य-प्राप्त है और उसी मे आस्था होती है।

जिसकी अभिन्नता कर्म-सापेक्ष नही है, उसकी अभिन्नता के लिए आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता ही समर्थ है। जड़ता, पराधीनता का अभाव विचार-साध्य है जो अपने लिए उपयोगी है परन्तु विचार जिसकी देन है, आस्था उसी से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से आस्था उसके लिए उपयोगी है जिससे सभी को सव कुछ मिलता है, अर्थात् कर्मनिष्ठ को कर्म सामग्री, मोक्षार्थी को विचार जिससे प्राप्त है, उसको रस देने के लिए आस्था ही समर्थ है।

आस्था का उपयोग कामनापूर्ति तथा निवृत्ति मे करना आस्था का दुरुपयोग है। आस्था का सदुपयोग एकमात्र आत्मीयतापूर्वक प्रियता की जाग्रति में ही है। प्रियता की जाग्रति आत्मीयता के अतिरिक्त किसी और प्रकार सम्भव ही नही है। जिसकी प्राप्ति किसी अन्य साधन से सम्भव ही नही है उसी की प्राप्ति के लिए आस्था अनिवार्य है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष तथा विवेक-सिद्ध है उसके लिए आस्था आवश्यक नही है; कारण, कि कर्म सामग्री और विवेक मानव को विना ही माँगे प्राप्त है और आस्था का उपयोग एक

मात्र प्रेम के प्रादुर्भाव में ही निहित है । इस दृष्टि से आस्था को सजीव तथा सुरक्षित रखने के लिए निर्मम तथा निष्काम होना अनिवार्य है, जो एकमात्र विचार से ही साध्य है । अत. परम-शान्ति तथा निर्विकारता की भूमि में ही आस्था पोषित होती है ।

अब विचार यह करना है कि आस्था की जीवन मे आवश्यकता ही क्यों है ? इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख-दुःख का भोग कर्म सापेक्ष है और निर्विकारता तथा शाति, निर्ममता एव निष्कामता से साध्य है और स्वाधीनता एकमात्र असंगता से सिद्ध है। अत जिसे इनकी माँग है, उसके लिए आस्था आवश्यक नही है, कारण, कि ये सारी बाते मानव को स्वत प्राप्त है अर्थात् भोग के लिए कर्म सामग्री और निष्कामता, निर्ममता एवं असंगता के लिए विवेक शक्ति । किसी बिना जाने किन्तु सुने हुए में आस्था तो वही कर सकता है जिसने इस बात पर विचार किया हो कि वह कौन है जिसने सब कुछ दिया है, जो हमें जानता है, पर हम जिसे भले ही न जानते हो, उसी मे आस्था होती है। आस्था का उपयोग भोग, मोक्ष की प्राप्ति में नही है, कारण, कि जो प्रयत्न-साध्य है उसके लिए आस्था अपेक्षित नही है । सुख की आशा का त्याग करने पर दु ख-निवृत्ति स्वत. होती है । अतः दु ख का अन्त करने के लिए भी आस्था अपेक्षित नही है; कारण, कि सुख की आशा रखते हुए किसी भी प्रकार दु.ख की निवृत्ति नही होती । निज विवेक के आदर में ही निर्ममता, निष्कामता, असगता निहित है । विवेक का आदर बिना किए कोई भी निर्मम, निष्काम तथा असंग नही हो सकता । अत. जो विवेक से साध्य है उसके लिए भी आस्था अपेक्षित नही है । इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि आस्था केवल उसी के लिए अपेक्षित है, जिसने सब कुछ दिया है । उसको रस आस्था, श्रद्धा विश्वासपूर्वक ही मिल सकता है। अत. एकमात्र आत्मीयता की जागृति के लिए ही आस्था अपेक्षित है । अब यदि कोई यह कहे कि

उसे रस देने की क्या आवश्यकता है ? इस समस्या पर विचार करने से यह निस्सन्देह सिद्ध है कि जिसने सब कुछ दिया है उसे किसी से कुछ नही लेना है, पर क्या यह अपने को उचित मालूम होता है कि जिससे सब कुछ पाया हो उसे अपना तक न माने ? अपना माने विना क्या कोई उसके ऋण से मुक्त हो सकता है जिससे सब कुछ मिला है। यद्यपि उस दाता ने किसी को ऋणी नही बनाया है परन्तु अपने को कभी सन्तोष नही हो सकता कि जिससे सब कुछ पाया हो वह अपना प्यारा न रहे। आत्मीयता के बिना क्या किसी अन्य प्रकार से स्वाभाविक अखण्ड, अगाध, प्रियता जाग्रत हो सकती है ? कदापि नही और क्या बिना जाने हुए में आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना आत्मीयता हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती। इस दृष्टि से मानव-मात्र के लिए आस्था अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमे तो किसी से कुछ नही मिला। सब अपना ही है। यदि यह निर्णय युक्ति-युक्त है तो फिर पराधीनता, जड़ता, अभाव मे आबद्ध क्यो रहे ? क्या कोई स्वाधीन होकर पराधीनता पसन्द करेगा ? वह भी ऐसी पराधीनता जिसमे सुख की दासता तथा दुःख का भय हो ? हाँ, उस दाता के देने का ढग अनुपम तथा अद्वितीय है कि जिसे वह जो कुछ देता है उसे वह अपना ही प्रतीत होता है। इस उदारता का दुरुपयोग करना कहाँ तक न्याय-युक्त है, मानव स्वय विचार करे। दु ख-निवृत्ति, परम-शान्ति एव स्वाधीनता प्राप्त होने पर यद्यपि अपने लिए कुछ भी करना तथा पाना शेष नही रहता परन्तु पराधीनता आदि से जिसने रहित किया, क्या उसकी आत्मीयता स्वीकार करने पर शान्ति, स्वाधीनता आदि मिट जाएगी ? कदापि नही। अपितु स्वाधीनता सुरक्षित रहते हुए अगाध, अनन्त, नित-नव-रस की अभिव्यक्ति होगी; कारण, कि प्रियता निवृत्ति, पूर्ति से रहित है। दु.ख, अशान्ति, पराधीनता, जड़ता आदि की निवृत्ति होती है और शान्ति, स्वाधीनता, चिन्मयता आदि की

पूर्ति होती है, किन्तु प्रियता तो निवृत्ति, पूर्ति से रहित विलक्षण है; कारण, कि उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रहती है। क्षति, निवृत्ति, पूर्ति नहीं होती। शान्ति, स्वाधीनता आदि की नित-नव वृद्धि नही होती। यद्यपि शान्ति और स्वाधीनता भी अखण्ड, अविनाशी तथा चिन्मय है, पर प्रियता का रस तो अनन्त है। इतना ही नही, शान्ति और स्वाधीनता के आश्रित अहम् रूपी अणु रह सकता है किन्तु प्रियता मे तो अहम् की गन्ध भी नही रहती अर्थात् एकदेशीयता का अत्यन्त अभाव प्रियता में ही निहित है; कारण, कि प्रियता मे सत्ता उसी की होती है जिसकी वह प्रियता है। प्रियता ही उसे रस दे सकती है जो सब प्रकार से पूर्ण है। कारण कि प्रियता सभी को भाती है और उससे अरुचि तथा तृप्ति नही होती अतः जिसने सभी को सब कुछ दिया है, उसकी प्रियता ही उसे रस देती है। प्रियता से अभिन्नता मानवमात्र की हो सकती है जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक आत्मीयता से ही साध्य है। प्रियता का ही क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा से जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है। चाह-रहित हुए बिना मानव प्रियता का अधिकारी नही होता; कारण, जो कुछ भी चाहता है उसमे प्रीति की जाग्रति ही नही होती। इतना ही नही जो अपने मे अपना करके कुछ पाता है उसमे भी प्रियता जाग्रत नही होती। इस दृष्टि से अहम् और मम् का नाश भी प्रियता-जाग्रति के लिए अनिवार्य हो जाता है। अत प्रियता प्राप्त करने के लिए सेवा और त्याग तथा आस्थापूर्वक आत्मीयता अनिवार्य है। हाँ, यह अवश्य है कि आस्था पूर्वक आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से अभिन्न होने पर सेवा और त्याग स्वाभाविक हो जाता है और सेवा तथा त्याग को अपना लेने पर मानव प्रियता का अधिकारी हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पथ तथा विचार-पथ से भी आस्था के पथ में प्रवेश होता है और आस्था का पथ अपना लेने पर भी विचार-पथ तथा कर्त्तव्य-पथ स्वतः प्राप्त होता है, कारण, कि प्रियता की अभिव्यक्ति मे सभी

पथ एक हो जाते है। प्रियता की जाग्रति श्रम साध्य नहीं है। एक मात्र आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता पर-धर्म नही है अर्थात् शरीर आदि का धर्म नही है अपने ही द्वारा आत्मीयता स्वीकार की जाती है जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वास में ही निहित है। आस्था, श्रद्धा, विश्वास भी किसी अन्य के द्वारा सिद्ध नही होते। अपितु अपने ही को आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना होना है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जो स्वाधीनता-पूर्वक अपनायी जाती है वही आस्था है। आस्था का आरम्भ अपने ही द्वारा होता है। विश्व-सियो के सम्पर्क से आस्था पोषित होती है। इस कारण आस्था को अपनाने में पर की अपेक्षा नही है। यद्यपि ममता, कामना आदि का त्याग भी अपने ही द्वारा होता है पर उसके लिए विचार का प्रकाश अपेक्षित है। विना जाने हुए पर विचार का उपयोग हो नही सकता। अत. आस्था तो एकमात्र अपने ही द्वारा अपनायी जा सकती है। आस्था किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि मे रखना भूल होगी। आस्था का अर्थ है किसी के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना। इस कारण आस्था देखे हुए तथा मिले हुए मे हो ही नही सकती अपितु उसी मे हो सकती है जिसे देखा नही है। विना देखे की आस्था किसी प्रकार की क्षति नही कर सकती,कारण, कि आस्था से तो श्रद्धा, विश्वास की ही अभिव्यक्ति होती है। श्रद्धा, विश्वास सम्बन्ध जोडने मे समर्थ है। सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है जो प्राप्ति, प्रियता एव परिचय मे हेतु है।

प्रियता अपने प्रेमास्पद में किसी गुण की अपेक्षा नही रखती; कारण, कि गुणो के आश्रित प्रियता तो अपने रस में हेतु है। प्रियता एकमात्र प्रियतम को रस देती है अत. वे चाहे जैसे है, चाहे जहाँ हैं, चाहे कुछ करे, पर अपने होने मात्र से ही अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। यद्यपि प्रियता के लिए मिलन और वियोग कुछ अर्थ नही रखता तथापि कोई जाने न जाने, प्रियतम का प्रियता में ही नित्य वास है।

सारी सृष्टि जिसके किसी एक अश मात्र मे है वह प्रियता में है। इस दृष्टि से प्रियता अनन्त है। फिर भी उसका अपना कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है: कारण, कि प्रियता अभिन्नता से ही उदित होती है। योग, बोध आदि अनन्त की विभूतियाँ हैं पर वे अनन्त को रस नही दे पाती। इस दृष्टि से प्रियता अनन्त की वह अनुपम विभूति है जो अनन्त को मोहित करने मे समर्थ है, जो एकमात्र अविचल आस्था से ही साध्य हैं। करुणा, मुदिता आदि प्रियता के ही रूपान्तर है। इतना ही नही, नित-नव रस की अभिव्यक्ति प्रियता में ही निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी न किसी की आस्था मानवमात्र मे स्वभाव से रहती है। पर विचार यह करना है कि क्या देखे हुए मे आस्था है अथवा उसमे है जिसे नही देखा। देखे हुए की आस्था ममता उत्पन्न करती है जो विकारो का मूल है। देखे हुए की तो वास्तविकता का अनुभव करना है, आस्था नही। आस्था एकमात्र उसी में की जा सकती है, जिसकी प्रियता अपने को अभीष्ट हो। प्रियता उसी की अभीष्ट हो सकती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता न हो। उत्पन्न हुई वस्तुओ से मानव की मानी हुई एकता हो सकती है जातीय नही, कारण, कि उत्पत्ति विनाश का क्रम सतत् परिवर्तन होने के नाते देखे हुए की अविचल स्थिरता ही सिद्ध नही होती तो फिर उसमे आस्था करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? अर्थात् कुछ नही। इस दृष्टि से आस्था सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक मे ही हो सकती है और उसी के नाते सर्व की सेवा की जा सकती है। सुने हुए की आस्था देखे हुए से असग करने में समर्थ है। देखे हुए की असगता देखे हुए की वास्तविकता के बोध में हेतु है। इस कारण देखे हुए की वास्तविकता के परिचय मे भी आस्था समर्थ है। देखे हुए का परिचय होने पर भी जिसे नही देखा है उसकी अभिन्नता में आस्था हेतु है। इस दृष्टि से विचार की पूर्णता में आस्था और आस्था की पूर्णता मे विचार निहित है। पर यह रहस्य

वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होने आस्था अथवा विचार को स्वतंत्र रूप से अपनाया है अर्थात् साधन रूप आस्था में साधन रूप विचार और साधन रूप विचार मे साधन रूप आस्था को नहीं मिलाया है। साधन रूप आस्था का अर्थ है कि जिसे देखा नही है पर सुना है और उसकी आवश्यकता भी अनुभव होती है उसमे विकल्प रहित आस्था करना। विकल्प रहित आस्था, श्रद्धा विश्वास की जननी है। विश्वास में आत्मीयता और आत्मीयता से प्रियता जाग्रत होती है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद और भिन्नता का अन्त कर देती है और फिर साधन रूप आस्था साध्य रूप आस्था में परिवर्तित हो जाती है। साध्य रूप आस्था मे योग, बोध और प्रेम निहित है जो मानव की वास्तविक माँग है। यदि स्वभाव से ही आस्था प्रिय न हो तो आस्था के पथ का अनुसरण करना आवश्यक नही है। सन्देह की वेदना रहते हुए आस्था का पथ सहज तथा सुलभ नही है। सन्देह की निवृत्ति जिज्ञासा की जाग्रति तथा विचार की अभिव्यक्ति से ही सम्भव है। आस्था के लिए प्रमाण सहयोगी साधन भले ही हो, साक्षात् साधन नही है। आस्था की अभिरुचि यदि बीज रूप से विद्यमान है तो आस्था करना सहज होगा। जिसे आस्था स्वभाव से प्रिय न हो उसे अपना निरीक्षण करना चाहिए कि क्या मेरी किसी में आस्था नही है। देखे हुए में आस्था करने से परिणाम हितकर न होगा, कारण, कि देखे हुए से अभिन्नता सम्भव नही है। जिससे अभिन्नता सम्भव नही है, उसकी आस्था ममता, कामना, तादात्म्य आदि विकारो को ही उत्पन्न करती है। देखा हुआ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रतीति है, उसमे प्रवृत्ति तो होती है परन्तु प्राप्ति नही होती। अभाव की अनुभूति देखने की रुचि को नाश कर देती है और फिर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि दृष्टियाँ अपने उद्‌गम में विलीन हो जाती है जिसके होते ही स्वत विचार का उदय होता है जो वास्तविकता से अभिन्न कर देता है और फिर स्वतः उसमे आस्था हो

जाती है जो देखा हुआ नही था अपितु सुना था। सर्वांश में जान लेने पर आस्था की आवश्यकता नही रहती और देखा हुआ प्राप्त नहीं होता। इस कारण एकमात्र उसी में आस्था होती है जो देखा हुआ, जाना हुआ नहीं है अपितु जिसे सुना है। सुने हुए का अर्थ शब्द मात्र नही है अर्थात् जो अगोचर है वही सुना हुआ है और उसी की आस्था वास्तविकता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से आस्था भी स्वतत्र पथ है।

—: o :—

५

कर्त्तव्य-विवेचन

प्रत्येक मानव मे स्वभाव से कुछ न कुछ करने की रुचि विद्यमान है और उसकी पूर्ति के लिए वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्राप्त है। कर्त्तव्य का प्रश्न किसी अप्राप्त की अपेक्षा नही रखता, अपितु कर्त्तव्य का सम्पादन प्राप्त परिस्थिति मे ही निहित है। कत्तव्य का प्रश्न 'पर' के प्रति है 'स्व' के प्रति नही। कर्त्तव्य का सम्पादन जो 'पर' से प्राप्त है उसके द्वारा होता है, 'स्व' के द्वारा नही। इस दृष्टि से कर्त्तव्य पर-धर्म है। जो प्रवृत्ति पर-हित मे हेतु नही है वह कर्त्तव्य नही है। जिसे किसी का भी अहित सह्य है, वह कर्त्तव्यनिष्ठ नही हो सकता। कर्त्तव्य कर्त्ता का चित्र है जिसकी माँग जगत् को है अर्थात् कर्त्ता कर्त्तव्य होकर जगत् से अभिन्न होता है। कर्त्तव्य के अभाव मे ही 'भेद,' 'भिन्नता' तथा सघर्ष पोषित होता है जो विनाश का मूल है। कर्त्तव्य विज्ञान है कल्पना नही। जो कुछ किया जाता है उसका परिणाम स्वत. कर्त्ता के प्रति होता है। इसी कारण अहित-कर प्रवृत्तियाँ सर्वथा त्याज्य है। जो प्रवृत्ति पराधीनता, जड़ता तथा अभाव में आबद्ध करती है, वही अहितकर है। कर्त्तव्य परायणता मे पराधीनता की गध भी नही है, कारण, कि जो नही करना चाहिये तथा जो नही कर सकते वह कर्त्तव्य नही है। अहितकर और अनावश्यक कार्य का त्याग करने पर ही कर्त्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्य का ज्ञान और सामर्थ्य सभी मे विद्यमान है परन्तु अनावश्यक तथा अहितकर चेष्टाओ से कर्त्तव्य की विस्मृति तथा कर्त्तव्य पालन में

असमर्थता अनुभव होती है। इस कारण-कर्त्तव्य पालन से ही पूर्व यह भली भाँति अनुभव करना है कि क्या नही करना चाहिए और क्या नही कर सकते। जो प्रवृत्ति स्वाधीनता से पराधीनता की ओर गतिशील करती है उसे नही करना है। कर्त्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से कर्त्तव्य का सम्बन्ध पर-हित मे है। पर जब मानव व्यक्तिगत सुख-लोलुपता से प्रेरित होकर किसी कार्य मे प्रवृत्त होता है तव कर्त्तव्य की वास्तविकता से अपरिचित हो जाता है और पराधीनता आदि दोषों में आवद्ध होता है जो किसी भी मानव को स्वभाव से अभीष्ट नही है।

उत्पन्न हुई शरीर आदि वस्तुओ का तादात्म्य तथा सीमित अहम्-भाव मे आरोपित स्वीकृति ही प्रवृत्ति की जननी है। देह का तादात्म्य इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तद्रूप कर देता है। इन्द्रिय जन्य स्वभाव से तद्रूप प्राणी सुख-लोलुपता मे आवद्ध होता है जो अकर्त्तव्य की जननी है। अकर्त्तव्य के साथ साथ किया हुआ कर्त्तव्य कर्त्ता को द्वन्द्वात्मक स्थिति मे बाँध देता है। द्वन्द्वात्मक स्थिति के रहते हुए बेचारा मानव दीनता तथा अभिमान की अग्नि मे दग्ध होता रहता है, जो ह्रास का मूल है। अकर्त्तव्य का अन्त करने पर ही कर्त्तव्य-परायणता आती है जो पारस्परिक एकता की जननी है। एकता सुरक्षित रहने पर सुन्दर समाज का निर्माण स्वत होता है जो सभी के लिए हितकर है। पारस्परिक सघर्ष का कारण एक-मात्र कर्त्तव्य-विज्ञान से अपरिचित होना है। यह सभी को मान्य है कि अपने प्रति अकर्त्तव्य किसी को अभीष्ट नही ह तो फिर अकर्त्तव्य का मानव-जीवन मे स्थान ही क्या है? अर्थात् कुछ नही। कर्त्तव्य पालन उतना आवश्यक नही है जितना अकर्त्तव्य का त्याग, कारण, कि अकर्त्तव्य का त्याग बिना किये कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति ही नही होती। जो नही करना चाहिए उसके न करने पर दो ही अवस्थाएँ स्वत. आती है; सही करना अथवा न करना। सही करने से पारस्परिक एकता और न करने से

देहाभिमान का नाश स्वतः होता है। इस दृष्टि से सही करना जगत् के लिए और न करना अपने लिए उपयोगी है। न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नही है अपितु चिर-विश्राम है। जो करने योग्य है उसे विना किये किसी को भी विश्राम नही मिल सकता और विश्राम के विना कोई भी स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नही पाता। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु किए हुए की फलासक्ति अपने लिए अभीष्ट नही है, इसका कर्त्तव्य पालन में कोई स्थान ही नही है।

कर्त्तव्य-परायणता वह विज्ञान है जिससे मानव जगत् के लिए उपयोगी होता है और स्वयं योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है; कारण, कि कर्त्तव्य-परायणता विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। राग रहित हुए विना कोई भी मानव सर्वतोमुखी विकास में समर्थ नही होता। इस दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है। कर्त्तव्य का अर्थ प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का पर-हित में व्यय करना है। अपना हित एकमात्र राग रहित होने में ही निहित है। जो मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता आदि के द्वारा व्यक्तिगत सुख सम्पादन करता है वह कभी भी कर्त्तव्य की वास्तविकता से परिचित नही हो सकता। कर्त्तव्य की वास्तविकता एकमात्र पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील होने में है। वह तभी सम्भव होगा जब यह अनुभव करे कि मिला हुआ अपने लिए नहीं है। कर्त्तव्य पालन की सामग्री मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध किसी अप्राप्त वस्तु, योग्यता आदि से नही है इसी कारण कर्त्तव्य पालन प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने में कोई भी मानव कभी भी किसी भी परिस्थिति मे असमर्थ तथा परतंत्र नहीं है, कारण, कि कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से किसी को भी वह नहीं करना है जिसे वह नही कर सकता। तो फिर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनतापूर्वक

कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकना है। अकर्त्तव्य के रहते हुए ही कर्त्तव्य में पराधीनता भासित होती है। वास्तव में कर्त्तव्यपालन में पराधीनता की गध भी नही है। कर्त्तव्यपालन का परिणाम यदि किसी अप्राप्त परिस्थिति का प्राप्त करना होता, तब तो कर्त्तव्य पालन में स्वाधीनता का प्रश्न ही न होता। प्रत्येक परिस्थिति कर्त्तव्यपालन की सामग्री के तुल्य है। अतएव प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्य पालन सम्भव है। कर्त्तव्य का फल किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की प्राप्ति में नहीं है अपितु देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि से अतीत के जीवन का अधिकारी होने में है। मानव अपने वास्तविक लक्ष्य से अपरिचित होने के कारण कर्त्तव्य का फल वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति मानता है। उत्पन्न हुई वस्तु-जनित सुख-सामग्री तो उन प्राणियों को भी उपलब्ध है जिनके सामने कर्त्तव्य का प्रश्न ही नही है। इससे भी यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्त्तव्य का प्रश्न एकमात्र मानव ही के सामने है। अत: मानव-जीवन में अकर्त्तव्य के लिए कोई स्थान ही नही है। अकर्त्तव्य की उत्पत्ति देह-जनित सुख-लोलुपता में ही निहित है। देह-जनित सुखभोग मानव से भिन्न प्राणियो को भी प्राप्त है। किन्तु मानव जीवन में देह-जनित सुख-लोलुपता के साथ साथ उससे ऊपर उठने का भी प्रश्न है; कारण, कि यह मानवमात्र का अनुभव है कि सुख-लोलुपता का परिणाम पराधीनता, जडता एवं अभाव में आबद्ध होना है। मानव-जीवन में स्वाधीनता, चिन्मयता एव पूर्णता की माँग है। इस दृष्टि से देह-जनित सुख-लोलुपता का सम्पादन करना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नही है। सुख की वास्तविकता का अनुभव करने मात्र के लिये ही देह-जनित कार्यों का स्थान है। पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील होने के लिए सुख की वास्तविकता का अनुभव कर, उससे असग होना अनिवार्य है। यह सभी का अनुभव है कि कामना-पूर्ति काल में सुख का भास होता है। यद्यपि वह भास भी कामना-

पूर्ति-जनित नही है अपितु कामना रहित होने से ही है पर प्रमाद वश मानव उस सुख को कामना-पूर्ति का सुख मान लेता है। कामना उत्पत्ति से पूर्व जो वस्तु-स्थिति है वही कामनापूर्ति के अन्त में भी है। परन्तु इस वास्तविकता का बोध विना हुए सुख के भास को कामना-पूर्ति में आरोप कर लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि अन्त में कामना-अपूर्ति ही शेष रहती है, जो किसी को भी स्वभाव से रुचिकर नही है। इतना ही नही, यदि कामना पूर्ति ही सुख का कारण मान लिया जाय, तब भी कामनापूर्ति काल में पराधीनता तो ज्यो की त्यो रहती है। उस पराधीनता का स्पष्ट अनुभव कामना-अपूर्ति काल मे होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने लक्ष्य से परिचित हो जाय। देहाभिमान के कारण प्रमाद वश मानव पराधीनता मे भी मधुरता का अनुभव करता है। क्या मधुर विप विनाश में हेतु नही होता? अर्थात् अवश्य होता है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग पर-सेवा मे है। सेवा का अर्थ यह नही है कि सेवा के अन्त में त्याग तथा प्रेम के अतिरिक्त और कुछ मिल सकता है। सेवा एकमात्र त्याग तथा प्रेम की जननी है। त्याग अपने लिए और प्रेम प्रभु के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से सेवापरायण होने से ही मानव-जीवन मे पूर्णता प्राप्त होती है। सेवा ही कर्त्तव्य का वास्तविक स्वरूप है। सेवा-भाव मे ही हर प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म समान अर्थ रखता है। छोटे से छोटा कार्य और बड़े से बड़ा कार्य कर्त्तव्य-बुद्धि से करने पर समान ही है। इस रहस्य को जान लेने पर मानव प्रत्येक परिस्थिति मे स्वाधीनता पूर्वक सर्वतोमुखी विकास करने मे समर्थ है। यह कैसी अनुपम महिमा है कि परिस्थितियो मे भेद होने पर भी फल मे समानता है। कर्त्तव्य-विज्ञान के इस रहस्य को भूल जाने पर ही मानव-समाज परिस्थितियो में आबद्ध हो परिस्थितियों का आह्वान करता रहता है और परिणाम

में पराधीनता जडता तथा अभाव ही पाता है। कर्त्तव्य-विज्ञान को अपनाये विना प्रत्येक परिस्थिति विकास की जननी नही हो सकती। दो व्यक्तियो की भी सर्वांश मे परिस्थितियाँ समान नही होती। यदि सर्वतोमुखी विकास को परिस्थिति जनित मान लिया जाय तो समस्त विश्व मे किसी एक ही व्यक्ति का विकास होगा। पर यह मान्यता किसी भी मानव को अभीष्ट नही हो सकती; कारण, कि मानव-मात्र की वास्तविक माँग एक है। इस दृष्टि से सभी परिस्थितियो में सर्वतोमुखी विकास होना अनिवार्य है। विकास परिस्थिति के आश्रित नही है अपितु उसके सद्-प्रयोग मे है। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती है। इस मगलमय विधान की जितनी भी सराहना की जाय, कम है। परिस्थितियो का सदुपयोग करने के लिए उदारता तथा त्याग अपनाना अनिवार्य है। प्रत्येक परिस्थिति आँशिक अनुकूलता तथा आँशिक प्रतिकूलता से युक्त है। अनुकूलता का उपयोग उदारता मे और प्रतिकूलता का उपयोग त्याग मे निहित है। उदारता का अर्थ दु.खियो को देख करुणित और सुखियो को देख प्रसन्न होने ही मे है। त्याग का अर्थ अहम् और मम् के नाश में है। करुणा और प्रसन्नता मानव को अनुकूलता की दासता से रहित कर देती है और अहम् और मम् के नाश से भयकर से भयकर प्रतिकूलता भी भयभीत नही कर पाती। अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय मिटते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति शेष नही रहती और फिर स्वत. समता के साम्राज्य मे प्रवेश होता है जो विकास का मूल है। सुख-भोग की रुचि का नाश करुणा मे और निष्कामता प्रसन्नता मे निहित है। करुणित हृदय में सुखभोग की रुचि जीवित नही रहती और खिन्नता की भूमि मे ही काम की उत्पत्ति होती है। अत: प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होने पर निष्कामता स्वत. आजाती है, जो विकास का मूल है। निष्कामता कर्त्ता में रहती है, कर्म में नही। कर्म तो प्राकृतिक नियमानुसार फल के स्वरूप में

परिणत होता है, पर कर्त्ता में निष्कामता आ जाने से कर्म-जनित फल से कर्त्ता स्वय असंग हो जाता है। यह सभी का अनुभव है कि कर्त्ता मे से ही कर्म की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् कर्म कर्त्ता का ही चित्र है। इस दृष्टि से किसी कर्म से कर्म का निर्माण होगा, यह सिद्ध नही होता अपितु निष्काम कर्त्ता से ही सुन्दर कर्म की अभिव्यक्ति होती है। अत. कर्त्ता के परिवर्तन मे ही कर्म का परिवर्तन है। सुन्दर कर्त्ता से सुन्दर कर्म होगा। सुन्दर कर्त्ता तभी हो सकता है जब कर्त्तव्य का सम्बन्ध एकमात्र पर-हित से हो। अपने लिए किसी भी मानव को कुछ भी करना नही है। पर इसका अर्थ यह नही कि कोई भी मानव कर्त्तव्यनिष्ठ विना हुए वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है। कर्त्तव्य-परायणता तो मानव-जीवन का मुख्य अग है। फिर भी यह स्पष्ट है कि अपने लिए कुछ भी नही करना है। यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा जब मानव मिले हुए को न तो अपना माने और न अपने लिये। मिला हुआ जो कुछ है वह सृष्टि का एक अल्प से अल्प भाग है। सृष्टि की वस्तु को सृष्टि के हित मे व्यय करना अनिवार्य है, जो वास्तव मे कर्त्तव्य का स्वरूप है। मिले हुए का सदुपयोग स्वतः निष्कामता तथा असगता प्रदान करता है। निष्कामता से परम-शान्ति और असगता से स्वाधीनता प्राप्त होती है, जो अपने लिए अभीष्ट है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान की पूर्णता मे ही योग-विज्ञान की अभिव्यक्ति है।

कर्त्तव्यपालन का अर्थ कर्त्तव्य के अभिमान में, क्रियाजनित सुख-लोलुपता मे, एव फलासक्ति में आबद्ध होना नही है। ज्यो-ज्यों कर्त्तव्य-परायणता आती जाती है, त्यो-त्यो करने का राग, पाने का लालच, जीने की आशा और मरने का भय स्वत. मिटता जाता है। सर्वांग में कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर मानव स्वत. अपने ही में अपने सर्वस्व को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म आस्तिक की पूजा, अध्यात्मवादी का साधन एव भौतिकवादी की

सेवा है। वादो का भेद होने पर भी कर्त्तव्य का वाह्यरूप परिस्थिति के आश्रित ही होता है। अतः प्रत्येक मानव के लिये कर्त्तव्य का बाह्यरूप परिस्थिति के अनुरूप ही होगा, अर्थात् दर्शन अनेक और परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्य एक। परिस्थिति भेद में ही कर्त्तव्य का भेद है। दार्शनिक भेद होने से कर्त्तव्य मे कोई भेद नही है। इसी कारण प्रत्येक मानव को कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए एकमात्र जाने हुए अकर्त्तव्य का त्याग करना है। अकर्त्तव्य का त्याग करने के लिए स्वयं प्राप्त विवेक के प्रकाश मे किये हुए पर विचार करना होगा। विवेक विरोधी कर्म ही अकर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य के साथ-साथ किया हुआ आशिक कर्त्तव्य, कर्त्ता को गुणो के अभिमान मे ही आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। अकर्त्तव्य को सर्वांश में अन्त किये विना कर्त्ता में कर्त्तव्य की स्मृति जाग्रत नही होती अर्थात्—कर्त्तव्य का स्पष्ट वोध नही होता और उसके विना कर्त्तव्य-परायणता सम्भव नही है। कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानवमात्र को स्वत मगलमय विधान से प्राप्त है। अत. कर्त्तव्यपालन से निराश होना भारी भूल है। इस भूल का मानव-जीवन मे कोई स्थान ही नही है। भूल को भूल जानने पर ही भूल का नाश होता है। श्रम-रहित होने पर स्वत अपने को अपनी भूल का ज्ञान हो जाता है। क्रिया-जनित सुख मे आवद्ध प्राणी भूल को भूल नही जान पाता। इस कारण प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है। जिस प्रवृत्ति का आरम्भ और अन्त विश्राम में होता है, वह प्रवृत्ति निवृत्ति के समान ही फलदायक है और वही वास्तव में कर्त्तव्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार सब कुछ करने पर जिसकी प्राप्ति होती है, कुछ न करने पर भी उसी की उपलब्धि होती है। पर कुछ न करने के लिए सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप फलासक्ति से रहित कर्त्तव्य पालन अनिवार्य है। जब तक मानव यह मानता है कि किये

हुए से मुझे कुछ मिलेगा, तब तक कर्त्तव्य का पालन सम्भव नही होता और दूसरों के अधिकार की रक्षा किये बिना भी विद्यमान राग मिट सकता है, यह मानना भ्रममूलक है और अपने अधिकार का त्याग किये बिना नवीन राग की उत्पत्ति नही होगी, ऐसा मानना भी प्रमाद ही है। दूसरो के अधिकारो की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग ही वास्तव में कर्त्तव्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि राग का अभाव तो विवेक पूर्वक असग होने से भी हो सकता है, परन्तु विचार यह करना है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग क्या असग होने पर स्वाभाविक नही हो जाता ? अर्थात् अवश्य हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर असग होने की सामर्थ्य आती है और असग होने पर कर्त्तव्य-परायणता स्वत आ जाती है। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि दूसरो के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग अनिवार्य है। आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत होने पर भी स्वार्थभाव का अत्यन्त अभाव हो जाता है और आत्मीयता से जाग्रत प्रियता उदित होती है जिसके होने पर भी दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग हो जाता है, कारण, कि प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा ही है। इस दृष्टि से शरणागति में भी कर्त्तव्यपरायणता आ जाती है। सभी दृष्टियों से वास्तविकता मे कोई भेद नही होता। मानव की रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के भेद होने से दृष्टि-भेद अवश्य है पर माँग की एकता होने के कारण वास्तविकता में कोई भेद नही है। यह निर्विवाद सिद्ध है।

प्रत्येक मानव में स्वभाव-सिद्ध करने का राग है। उसकी निवृत्ति कर्त्तव्य पालन मे ही निहित है। कर्त्तव्य पालन कर्त्ता के अधीन है। उसे वह स्वतत्रता पूर्वक कर सकता है। यद्यपि कर्म-सामग्री समष्टि शक्तियो से निर्मित है, व्यक्तिगत नही है, परन्तु प्राकृतिक नियमानु-

सार प्राप्त वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव को प्राप्त है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य भी स्वतंत्र पथ है। कर्त्तव्य में असमर्थता तथा पराधीनता तभी अनुभव होती है, जब मानव कर्त्तव्य मात्र मे ही अपना अधिकार नही मानता अपितु फलासक्ति का प्रलोभन रखता है जब कि यह निर्विवाद है कि कर्त्तव्य पर-हित में ही निहित है, उसके द्वारा व्यक्तिगत सुख सम्पादन करना भूल है। व्यक्तिगत विकास के लिए तो मानव को कर्त्तव्य के अन्त में स्वतः योग की प्राप्ति होती है। योग अपने लिए और कर्त्तव्य 'पर' के लिए निर्मित है। योग की प्राप्ति के लिए किसी कर्म-सामग्री की अपेक्षा नही है केवल करने की राग निवृत्ति मात्र से ही योग के साम्राज्य में प्रवेश होता है अर्थात् योग प्राप्ति में श्रम अपेक्षित नही है। इस कारण योग अपने लिए और कर्त्तव्य 'पर' के लिए विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार पर-हित में अपना हित स्वतः सिद्ध रहता ही है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि मानव को व्यक्तिगत विकास के लिए श्रम-साध्य साधन ही अपेक्षित हो। श्रम की आवश्यकता तो प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है। परिस्थिति का सदुपयोग पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओ के हल करने में अचूक उपाय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है कि जब परिस्थितियों में जीवन बुद्धि न रहे, अपितु प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के रूप में ही स्वीकार की जाय। परिस्थिति विधान से निर्मित है और स्वभाव से ही परिवर्त्तनशील है, उससे केवल मानी हुई एकता है। इस कारण कर्त्तव्य-परायणता-पूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का दायित्व है। दायित्व पूरा होने पर स्वत. विश्राम मिलता है जो सामर्थ्य तथा विचार एव प्रीति की भूमि है। कर्त्तव्य पथ से भी मानव विश्राम प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य भी स्वतंत्र पथ है। कर्त्तव्य की पूर्णता होने पर विश्राम तथा विश्व प्रेम एवं अनेकता में एकता का साक्षात्कार बडी ही सुगमतापूर्वक स्वत. होता है। प्रम का-

आरम्भ किसी भी प्रतीक मे क्यो न हो किन्तु प्रेम स्वभाव से ही विभु हो जाता है। अत. विश्व प्रम भी विश्व से अतीत, आत्मरति एव प्रभु प्रेम के रूप मे परिणत होता है, कारण, कि प्रेम तत्व को किसी सीमा में आवद्ध नहीं किया जा सकता। जो प्रियता सीमा मे आवद्ध है, वह प्रेम नही है अपितु प्रेमाभास है। प्रेम तो वह अविच्छिन्न गति है जो क्षति, निवृत्ति, पूर्त्ति आदि से विलक्षण है। प्रेम का प्रादुर्भाव प्रेमी को प्रेम के रूप मे परिणत कर विभु हो जाता है। प्रेम जिसमें उदित होता है, उसे भी अपने से ही अभिन्न कर लेता है। इस दृष्टि से प्रेम मे ही जीवन की पूर्णता है। उसी का क्रियात्मक रूप कर्त्तव्य-परायणता है। इस कारण कर्त्तव्य-निष्ठ मानव प्रेम से अभिन्न हो सकता है। अतः कर्त्तव्य-पथ से भी पूर्णता प्राप्त होती है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव के जीवन मे आलस्य, अकर्मण्यता, चिन्ता, भय आदि के लिए कोई स्थान ही नही रहता; कारण, कि आलस्य जडता में और अकर्मण्यता व्यर्थ-चिन्तन में आवद्ध करती है। कर्त्तव्य-परायणता सजगता से ही साध्य है। सजगता आते ही अकर्मण्यता का भी अन्त हो जाता है और फिर प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म सहज, सरस तथा स्वाभाविक होने लगता है। ज्यो ज्यो कर्त्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक होती जाती है, त्यो त्यो कर्त्तव्य का अभिमान और क्रिया-जनित सुख तथा फलासक्ति भी अपने अपने आप मिटती जाती है। जव तक कर्त्तव्य में अस्वाभाविकता रहती है तभी तक कर्त्ता को अपने में कर्त्तव्य-निष्ठ होने का भास होता है। कर्त्तव्य मे अस्वाभाविकता तभी तक रहती है, जव तक किसी न किसी अंश मे अकर्त्तव्य विद्यमान है। अकर्त्तव्य का नितान्त अभाव होने पर कर्त्तव्य-परायणता सहज तथा स्वभाविक हो जाती है। कर्त्तव्य पालन से पूर्व उसकी स्मृति तथा पालन की सामर्थ्य स्वत· प्राप्त होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जव कर्त्तव्य पालन में अविचल आस्था हो। दूसरों के कर्त्तव्य की स्मृति अपने कर्त्तव्य की विस्मृति

में हेतु है और कर्त्तव्य की विस्मृति ही अकर्त्तव्य की जननी है। इस दृष्टि से दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखना ही अपने कर्त्तव्य से च्युत होना है जो विनाश का मूल है। कर्त्तव्य-परायणता स्वत दूसरों में कर्त्तव्य की भावना को जगाती है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव को अवकाश ही नही मिलता कि वह किसी अन्य के कर्त्तव्य पर विचार कर सके। अधिकार लोलुपता में आबद्ध होने पर ही दूसरो के कर्त्तव्य पर दृष्टि जाती है। अधिकार लोलुपता कर्त्तव्य की राह मे भारी बाधा है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार अधिकार कर्त्तव्य का दास है पर इस विधान मे आस्था न रहने से अधिकार की माँग उत्पन्न होती है, जो प्रमाद है। अपने अधिकार का अपहरण होने पर भी कर्त्तव्य पथ के पथिक की कोई क्षति नही होती अपितु विकास ही होता है, कारण, कि वास्तव में मानव का कर्त्तव्य पालन ही में अधिकार है, अधिकार में अधिकार नही है। अधिकार का रोग राग तथा क्रोध से रहित नही होने देता। राग पराधीनता मे और क्रोध विस्मृति मे आबद्ध करता है जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में अधिकार-लोलुपता का कोई स्थान ही नही है। यदि अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना हो तो अधिकार रूपी मधुर विष को अवश्य अपना लिया जाय परन्तु यदि स्वाधीनता पूर्वक सत् पथ पर अग्रसर होने की अभिरुचि है तो सदा के लिए अधिकार-लोलुपता का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही कर्त्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। राग तथा क्रोध के रहते हुए न तो कर्त्तव्य पालन की सामर्थ्य ही प्राप्त होती है और न कर्त्तव्य की स्मृति ही जाग्रत होती है तो फिर कर्त्तव्य-पालन कैसे सम्भव हो सकता है ? अत कर्त्तव्य-निष्ठ मानव को राग तथा क्रोध से रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र अधिकार-त्याग मे ही निहित है। अधिकार-त्याग ही वह उपाय है कि जिसके द्वारा मानव समस्त विश्व को अभय दान देता है और स्वय स्वाधीन होता है। अधिकार के भार से ही

निकटवर्ती प्रिय जन तथा सारी सृष्टि भयभीत होती है; कारण, कि अधिकार की माँग दूसरो में क्षोभ उत्पन्न करती है। यद्यपि दूसरों के अधिकार देने में बडी ही स्वाधीनता है और देने पर स्वत: सत्-पथ की ओर प्रगति होती है, पर अधिकार की माँग तो दूसरो को शान्त नही रहने देती। इस दृष्टि से अधिकार का त्याग अत्यन्त आवश्यक है जिसके द्वारा दूसरों की शान्ति भग होती है अथवा दूसरे भयभीत होते है और उसे भी चिन्तित तथा क्षोभित होना पड़ता है। चिन्ता तथा क्षोभ से रहित होने के लिए दूसरों को भय रहित करना तथा शान्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। क्षोभित तथा चिन्तित रहते हुए कर्त्तव्य पालन सम्भव नही है, कारण, कि चिन्ता तथा क्षोभ से प्राप्त-शक्ति का ह्रास होता है और कर्त्तव्य की विस्मृति होनी है। कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिए चिन्ता तथा क्षोभ से रहित होना अनिवार्य है। जब मानव वह कर देता है जो करना चाहिए तब समस्त विश्व उसके अनुकूल हो जाता है, अर्थात् चराचर जगत उसकी हितकामना करता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन विकास का मूल है।

कर्त्तव्य का अभिमान अकर्त्तव्य से भी अधिक निन्दनीय है; कारण, कि अकर्त्तव्य से पीड़ित प्राणी कभी न कभी कर्त्तव्य की राह चल सकता है किन्तु कर्त्तव्य का अभिमानी तो अकर्त्तव्य को ही जन्म देता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता का अभिमान करना भारी भूल है। कर्त्तव्य-पालन न करना महान दोप है पर कर्त्तव्य-निष्ठ होने में कोई विशेषता का अनुभव करना कर्त्तव्य के रूप में अकर्त्तव्य को अपनाना है। अकर्त्तव्य के रूप में अकर्त्तव्य का त्याग सुलभ है पर जो अकर्त्तव्य कर्त्तव्य के रूप मे आता है उसका त्याग बड़ा ही दुर्लभ होता है। इस कारण सजगता-पूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ मानव को कर्त्तव्य के अभिमान का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब यह स्वीकार कर लिया जाय कि जिन वस्तुओ, योग्यता और सामर्थ्य के द्वारा कर्त्तव्य का पालन किया है, वे

उन्ही की थी जिनके साथ कर्त्तव्य पालन किया है। किसी की धरोहर दे देना विशेषता नही है, अपितु न देने मे महान् दोष है। कर्त्तव्य की सामर्थ्य और स्मृति जिसकी देन है उसी के नाते कर्त्तव्य-पालन करना है तभी कर्त्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक होती है।

कर्त्तव्य-विज्ञान मे यह स्पष्ट है कि कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को विधान से प्राप्त है। प्राप्त के सदुपयोग का नाम ही कर्त्तव्य-परायणता है। प्राप्त का सदुपयोग किसी न किसी की सेवा मे है। उसके द्वारा व्यक्तिगत सुख का सम्पादन करना अपने को पराधीनता तथा अभाव मे आबद्ध करना है। जो सामग्री पर-सेवा के लिए मिली है उसका उपयोग व्यक्तिगत सुख-सम्पादन मे करना न्याय नही है। दाता ने मानव पर यह विश्वास किया है कि वह प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करेगा और न उसे अपना मानेगा और न उसका आश्रय लेकर स्वय पराधीनता तथा जड़ता मे आबद्ध होगा। पर मानव जानते हुए भी अपने ही द्वारा अपना विनाश कर बैठता है। उससे बचाने के लिए ही सृष्टि मे दुःख का प्रादुर्भाव होता है। पर कैसे आश्चर्य की बात है कि प्रवृत्ति जनित दुःखद परिणाम को भोगने पर भी मानव प्रवृत्ति से अपने सुख की आशा का त्याग नही करता है। सेवा-सामग्री को अपने सुख मे व्यय करना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। मानव का अपना हित तो त्याग मे है। त्याग को अपनाते ही परम शान्ति, स्वाधीनता, सेवा और प्रीति स्वत जाग्रत होती है, शान्ति और स्वाधीनता अपने लिए, सेवा जगत् के लिए और प्रीति उसके लिए जो जगत् का प्रकाशक तथा आश्रय है। इस दृष्टि से मानव-जीवन बड़े ही महत्व का जीवन है परन्तु क्रियात्मक रूप से पर-सेवा में प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का व्यय न करना और प्राणी मात्र के हित मे रति न रखना भारी भूल है। यह भूल मानव को

निष्कामता, निर्ममता तथा असंगता से विमुख कर देती है, जो विनाश का मूल है।

कर्म का सम्पादन केवल 'स्व' के द्वारा सम्भव नहीं है। प्रत्येक कर्म सामूहिक सहयोग से ही सिद्ध होता है। क्या इस तथ्य से स्पष्ट विदित नहीं हो जाता कि कर्म-जनित फलासक्ति व्यक्तिगत सुख की भावना से रखना प्रमाद नहीं है? अर्थात् अवश्य है। इसी कारण कर्म अनुष्ठान से पूर्व, कर्ता को सर्व-हितकारी सद्भावना स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य के पीछे सर्व हितकारी भावना सतत् रहनी चाहिये, तभी कर्म अनुष्ठान सत्-पथ पर अग्रसर कर सकेगा। जब कर्त्ता सर्वहितकारी सद्भावना नहीं रखता, तब उन प्रवृत्तियों का जन्म होता है जो कर्त्ता का विनाश करने में समर्थ है।

क्रिया और कर्म में एक बड़ा भेद है। क्रिया स्वतः होती रहती है पर कर्म किया जाता है। जो किया जाता है उसमें कर्त्ता का भाव पवित्र होना अनिवार्य है और कार्य-कुशलता तथा लक्ष्य पर दृष्टि भी रखना है। कार्य-कुशलता भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि-रहित कर्म अकर्त्तव्य है, जो सभी के लिए अहित-कर है। जो होता रहता है उसका अभिमान नहीं होता। जो करते हैं उसी का अभिमान होता है और उसी का उद्देश्य अंकित होता है, जो कालान्तर में फलित होता है। क्रिया एकमात्र उत्पत्ति विनाश का क्रम है और कुछ नहीं। कर्म का आरम्भ सीमित अभाव से होता है। यद्यपि उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता, परन्तु सुख-लोलुपता के कारण उसका भास होता है और उसी में करने का राग तथा पाने का प्रलोभन है। करने के राग की निवृत्ति प्रलोभन रहित होने पर ही सम्भव है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्म अनुष्ठान सर्वहितकारी सद्भावना पूर्वक प्रलोभन तथा भय से रहित होकर करना अनिवार्य है। प्रलोभन के रहते हुए भय होता ही है। प्रलोभन रहित होने पर ही निर्ममता स्वतः आती है। इस दृष्टि से प्रलोभन तथा भय से रहित प्रवृत्ति ही

सर्वहितकारी प्रवृत्ति है और वही कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्य-निष्ठ मानव की माँग जगत् को रहती है। कर्तव्यनिष्ठ मानव जगत् का चिन्तन नही करता और न उसके पीछे दौडता है अपितु जगत् उसका चिन्तन करता है और उसकी आवश्यकता अनुभव करता है। यह नियम है कि जो जगत् की आवश्यकता अनुभव नही करता वही जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। जो जगत् की आवश्यकता अनुभव करता है वह तो जगत् को अपनी खुराक बनाकर अनेक प्रकार के सघर्षो को जन्म देता है। अत कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिए यह आवश्यक है कि मानव अपने को जगत् की आवश्यकता से रहित कर शान्ति तथा स्वाधीनता को प्राप्त करे। अशान्त तथा पराधीन प्राणी कभी भी कर्त्तव्य-निष्ठ नही हो सकता। जो कर्त्तव्य-निष्ठ नही है, उसकी जगत् को कभी आवश्यकता नही होती। जिसकी जगत् को आवश्यकता नही रहती, वही अनेक प्रकार की दासताओं मे आबद्ध होकर भटकता रहता है। अल्प से अल्प वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता क्यो न हो किन्तु जिसने अपने को जगत् की आवश्यकता से रहित कर लिया है उस के द्वारा महान् से महान् सेवा स्वत होने लगती है, कारण, कि उसमे कर्त्तव्य-परायणता आ जाती है। इस दृष्टि से वे ही सेवा कर सकते हैं जो सर्व साधारण की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है, यह धारणा भ्रममूलक ही है। सेवा करने के लिए एकमात्र अपने को पराधीनता से रहित करना है। स्वाधीनता से अभिन्न होने पर ही सेवा का सम्पादन होता है। पारस्परिक दो आवश्यकताओ का सयोग यद्यपि सुखद-प्रतीत होता है परन्तु जो आवश्यकता रहित होकर दूसरों की आवश्यकता नही वन जाता वह सेवा नही कर सकता। अपनी आवश्यकता रखते हुए किसी की आवश्यकता को पूरा करना भोग है, सेवा नही। यह सभी को विदित है कि भोग का परिणाम रोग तथा शोक के अतिरिक्त और कुछ नही है। सेवा की पूर्णता सेवक को प्रीति से अभिन्न कर देती है अर्थात्

सेवा प्रीति मे परिणत होती है और प्रीति की जाग्रति मे ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिसे प्रीति से अभिन्न होना है वही कर्त्तव्य-निष्ठ हो सकता है।

आवश्यकता-रहित होने के लिये प्राप्त विवेक के प्रकाश मे अपने लक्ष्य का निर्णय करना अनिवार्य होता है। वास्तविक माँग से अपरिचित मानव दूसरो से किसी न किसी प्रकार की आशा रखता है। जो 'पर' से आशा रखता है, वह आवश्यकता-रहित नही हो सकता और उसके बिना हुए कर्त्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश ही नही होता। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की द्वन्द्वात्मक स्थिति तो मानव-मात्र मे जन्मजात है ही, पर अकर्त्तव्य-रहित कर्त्तव्य-परायणता ही वास्तव मे अभीष्ट है। कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणी के जीवन मे अकर्त्तव्य की उत्पत्ति ही नहीं होती और कर्त्तव्य-परायणता का भास नही होता, कारण, कि भास उसी का होता है जिससे किसी न किसी अश मे भिन्नता है अर्थात् जो जीवन नही है। कर्तव्य-परायणता मे जीवन है। भिन्नता का मूल प्रलोभन तथा भय है। अकर्त्तव्य का भय तथा कर्त्तव्य का प्रलोभन उसी समय तक जीवित रहता है जिस समय तक अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य जानकर मानव उससे रहित नही होता। अकर्त्तव्य के परिणाम के भय से अकर्त्तव्य-जनित सुखासक्ति नाश नही होती। अकर्त्तव्य किसी भी रूप मे अभीष्ट नही है, कारण, कि वह 'अकर्त्तव्य' है। तभी उसका त्याग होता है, जिसके होते ही कर्तव्य-परायणता स्वत आती है। किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर बलपूर्वक कर्तव्य-पालन करना वास्तविक कर्तव्य-परायणता नही है। जिसके मूल मे कोई भी प्रलोभन है वह प्रवृत्ति निर्दोष नही है। निर्दोषता जीवन है। अत निर्दोष होने पर ही कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है। प्रलोभन तथा भय से रहित होने पर ही, नित्य-प्राप्त निर्दोषता से अभिन्नता होती है। निर्दोषता का ही क्रियात्मक रूप कर्त्तव्य-परायणता है। यद्यपि निर्दोषता नित्य होने से सभी को सदैव प्राप्त है, परन्तु प्रलोभन तथा भय

मे आवद्ध प्राणी प्राप्त निर्दोषता से परिचित नही होता। जिसे पराधीनता असह्य हो जाती है उसमें किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं रहता। प्रलोभन रहित होते ही स्वत भय का अन्त तथा निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है। यह कैसी विडम्बना है कि कोई भी मानव वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की दासता को सुरक्षित नही रख पाता अर्थात् जिसकी दासता स्वीकार करता है वह नही रहता, केवल दासता ही रह जाती है। यदि विचार करे तो यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह किस की दासता मे आवद्ध है ? उसकी, जो नही है। 'है' की प्रियता का त्याग तथा 'नही' की दासता मे आवद्ध रहना कहाँ तक युक्ति-युक्त है ? जो नही है, अर्थात् जिसका स्वतत्र अस्तित्व नही है उसी के द्वारा उसकी सेवा करना है, कि जिसकी प्रतीति है, प्राप्ति नहा। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य भी 'नही' मे परिणत हो रही है और जिसकी सेवा की जा रही है, वह भी उसी की जाति का है। इस दृष्टि से जो जिसकी जाति का है उसकी सेवा मे उसे व्यय करना और 'स्व' को प्रियता से अभिन्न करना वास्तविक कर्तव्य-परायणता है।

यह सभी को मान्य है कि शरीर और विश्व में जातीय एकता है अर्थात् शरीर विश्व की ही जाति का है। प्रत्येक मानव अपने अपने शरीर के प्रति रक्षा का भाव रखता है। उसमें दोष आ जाने पर दोष निवारण का प्रयास करते हुए भी शरीर की रक्षा की सद्भावना सतत् रहती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्व की रक्षा की भावना रखते हुए ही कर्त्तव्य करना है। यही पवित्रतम नीति है। प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में भावना क्या है ? इसका निर्णय किये बिना प्रवृत्ति सार्थक सिद्ध नही होती। अशुद्ध भावना से ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है और शुद्ध भावना से अकर्त्तव्य का नाश होता है। अकर्त्तव्य के नाश में ही कर्त्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से अशुद्ध भावनाओ का अन्त किये बिना कर्त्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश ही नही होता। समस्त भावनाओ का उद्गम

कर्त्ता है। जव तक कर्त्ता स्वयं शुद्ध नही होता तव तक शुद्ध भावनाओं का प्रादुर्भाव ही नही होता। जव मानव अपने जाने हुए का आदर करता है तव उसमे अशुद्धि नहीं रहती और फिर स्वतः शुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। अशुद्ध-कर्त्ता से ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति और शुद्ध-कर्त्ता से ही कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति होती है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म से कर्त्ता की उत्पत्ति नही होती अपितु कर्त्ता ही कर्म के रूप में परिणत होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जैसा कर्त्ता वैसा कर्म।

सवल से रक्षा की भावना सभी को स्वभाव से अभीष्ट है। इस माँग का आदर करने पर निर्वलों की रक्षा की सद्भावना स्वतः जाग्रत होती है। भावना का क्रियात्मक रूप ही कर्म है। अपनी माँग का वास्तविक वोध हुए विना शुद्ध भावनाओं की जाग्रति सम्भव नही है। कामना और माँग मे एक वड़ा भेद है। कामनाओं का उद्गम देहाभिमान है, जो अविवेक सिद्ध है और माँग का सम्वन्ध उससे है जो देह नही है। अत. देह से असंग होने पर ही कामनाओ का नाश और माँग की अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि कामनाओ के रहते हुए भी माँग प्रत्येक मानव में वीज रूप से विद्यमान है, पर कामना-जनित पराधीनता तथा अभाव की वेदना के विना माँग का परिचय नही होता और उसके हुए विना अशुद्ध संकल्पों का नाश नही होता। अशुद्ध संकल्पों के रहते हुए कर्त्तव्य का निर्णय सम्भव नही है। जो किसी को भी वुरा समझता है, तथा किसी का भी वुरा चाहता है एवं जानी हुई वुराई कर सकता है, वह कभी भी कर्त्तव्य की वास्तविकता से परिचित नही हो सकता। कर्त्तव्य पालन से पूर्व कर्त्तव्य का ज्ञान अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जव मानव यह स्वीकार करे कि मैं किसी को वुरा नही समझूँगा। किसी को वुरा समझने का अधिकार किसी को नही है, कारण, कि दूसरो के सम्वन्ध में यथेष्ट जानकारी सम्भव नही है। अव यदि कोई यह

कहे कि जो हमारे प्रति बुराई कर रहा है उसे बुरा समझने का अधिकार क्यो नहीं है ? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसने अपने प्रति बुराई नही की क्या वह दूसरों के प्रति बुराई कर सकता है ? कदापि नहीं। भला जिसने अपने प्रति बुराई की है उसके द्वारा यदि अपनी कोई क्षति होती है तो वह क्या करुणा का पात्र नही है ? करुणित-हृदय में प्रतिहिंसा की भावना ही जाग्रत नही होती अपितु बुराई के बदले में भलाई करने की उत्कट लालसा होती है। करुणित बिना हुए कर्त्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। करुणित मानव सुखासक्ति से रहित हो स्वतः कर्त्तव्य-परायण हो जाता है। करुणा तभी जाग्रत होती है जब मानव विश्व-जीवन के साथ एकता स्वीकार करता है। भेद और भिन्नता के रहते हुए कर्त्तव्य के गीत गाना अपने को आप धोखा देना है। एकता स्वीकार करने पर विनाश की भावना ही उत्पन्न नही होती और फिर स्वभाव से ही सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति होती है जिसके होते ही स्वभाव से ही कर्त्तव्य-परायणता आ जाती है जो विकास का मूल है। अपने द्वारा अपना विनाश किसी को अभीष्ट नही है तो फिर किस प्रकार किसी के प्रति बुराई की जाय जब कि अनेक भिन्नताएँ होने पर भी वास्तविक एकता है। एकता का बोध यद्यपि स्वभाव सिद्ध है परन्तु उसका आदर न करने से भेद तथा भिन्नता पोषित होती है। यदि एकता स्वभाव सिद्ध न होती तो दूसरो से आदर, प्यार तथा रक्षा की माँग ही न होती। जिससे किसी प्रकार की एकता नही है उससे कोई माँग भी नही होती। और यदि किसी प्रकार की भिन्नता न हो तो कर्त्तव्य का प्रश्न ही नही होता। कर्त्तव्य का प्रश्न एकता तथा भिन्नता से ही उत्पन्न होता है। सेवा करने के लिए एकता और सुख की आशा से रहित होने के लिए भिन्नता का उपयोग किया जाय तो एकता और भिन्नता दोनों ही का सदुपयोग हो   भिन्नता मे सघर्ष और एकता

में आसक्ति को जन्म देना अकर्त्तव्य है। अत जिस अंश मे भिन्नता प्रतीत होती है, उस अश मे त्याग को अपनाना है, द्वेष को नही और जिस अश में एकता प्रतीत होती है उस अंश में सेवा को अपनाना है, राग को नही। द्वेष के नाश मे प्रेम की अभिव्यक्ति और राग के नाश में बोध की अभिव्यक्ति स्वत. सिद्ध है। प्रेम रस का और वोध वास्तविकता का प्रतीक है।

एकता और भिन्नता के आधार पर ही सृष्टि की रचना है। अत: दोनों ही का सदुपयोग करना है। सदुपयोग करते ही एकता और भिन्नता से विलक्षण जो वास्तविक जीवन है उसकी अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्य की पूर्णता मे कर्त्ता स्वयं वास्तविकता से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता सर्वतोमुखी विकास का मूल है। कर्त्तव्य-निष्ठ हुए बिना कर्त्ता परिच्छिन्नता में आबद्ध रहता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए निष्कामता सम्भव नही है और निष्कामता के विना शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश नही होता जो विकास का मूल है। परिच्छिन्नता का नाश सुख की आशा और दु ख के भय से रहित होने में ही निहित है। द्वन्द्वात्मक स्थिति ही परिच्छिन्नता को पोषित करती है। सुख की आशा का अन्त करते ही दु:ख का भय स्वत: मिट जाता है और फिर परिच्छिन्नता असीम, अनन्त, चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाती है। सुख की आशा ने ही कर्त्तव्य से विमुख किया है और अकर्त्तव्य को जन्म दिया है। जिसे पराधीनता और अभाव असह्य हो जाता है वह मानव बडी ही सुगमतापूर्वक सुख की आशा से रहित हो जाता है जो विकास का मूल है।

—: o :—

समाज-दर्शन

अनेक प्रकार की भिन्नता मे एकता स्थापित करने का जो परिणाम है, वही समाज है। पर इस का अर्थ यह नही है कि सर्व-हितकारी सद्भावना से रहित जो पारिस्परिक एकता है, वह भी समाज का शुद्ध रूप है। मानव सामाजिक प्राणी है। वह सभी से अपने को और अपने को सभी से अभिन्न करना चाहता है। वह तभी सम्भव होगा जब मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को व्यक्तिगत न माने अपितु जो कुछ मिला है वह समाज की धरोहर समझे—अर्थात् प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि समाज के हित मे व्यय करे। ऐसा करने से सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते है और पारस्परिक सघर्ष स्वतः मिट जाते है। इतना ही नही, सारा समाज एक जीवन हो जाता है और इकाई और समूह का ऊपरी भेद रहने पर भी आन्तरिक एकता हो जाती है। ऐसे समाज की माँग व्यक्ति को और ऐसे व्यक्ति की माँग जो एकता स्थापित करने मे प्रयत्नशील है, समाज को रहती है। व्यक्तिगत आवश्य-कताओ की पूर्ति के लिये समाज की माँग होती है; कारण, कि कोई भी एक व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकता। इस के साथ साथ यदि वह स्वय दूसरो की आवश्यकता पूर्ति मे सहयोग नही देता तब भी समाज का निर्माण नही होता। समाज का निर्माण एक दूसरे की आवश्यकता पूर्ति में सहयोग देने के लिये है। प्राकृतिक पदार्थ, शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम द्वारा

सामाजिक आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन होता है। प्राकृतिक नियमानुसार उत्पादन के साधन और उत्पादित वस्तु व्यक्तिगत नही है। जो व्यक्गित नही है, उस के उपयोग मे अधिकार है, ममता मे नही और न उन के दुरुपयोग का ही अधिकार है। जिस किसी मानव ने जो कुछ उत्पादन किया है उस का वह स्वय ही उपभोग नही कर सकता अपितु एक दूसरे का उत्पादन एक दूसरे के काम आता है। यदि उत्पादन-कर्त्ता उत्पादित वस्तु को अपनी मान लेता है और उन प्राणियो को अपना नही मानता जिनके लिए वे वस्तुये उपयोगी है तब सामाजिक एकता सुरक्षित नही रहती और भिन्न-भिन्न प्रकार के सघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं, जो विनाश के मूल है। उत्पादन शक्ति जितनी उपयोगी है उतनी ही उपयोगी वह भावना भी है जिससे प्रेरित होकर उत्पादन का सदुपयोग हो सके। यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकार के बल का सम्पादन प्रत्येक मानव को स्वभाव से प्रिय है, परन्तु उत्पादित बलो का सामाजिक हित मे व्यय न करने से बल, उत्पादक के विनाश मे हेतु होता है। इस दृष्टि से बल का सम्पादन किसी निर्बल की सेवा मे है, मिथ्या अभिमान में आवद्ध होने के लिए नही। सवल और निर्बल की एकता ही समाज का सुन्दर चित्र है। वल के द्वारा निर्वलो का विनाश करना और समाजवाद के गीत गाना अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है। यह सभी को मान्य है कि वल का उपयोग उनके प्रति सम्भव नहीं है, जो अपने से अधिक वली हैं। वल का सदुपयोग तो एकमात्र निर्वलों की सेवा मे है। प्राकृतिक नियमानुसार जो वल निर्बलो की सेवा में व्यय होता है, वह अधिक सुरक्षित रहता है और उत्तरोत्तर बढता है, घटता नही। इस दृष्टि से बल का उत्पादन, उसकी सुरक्षा एकमात्र निर्बलो की सेवा में ही निहित है। जिस मानव का हृदय पर-पीडा से पीडित नही होता वह सम्पादित वल का सद्व्यय नही कर पाता। वल का दुरुपयोग तभी होता है जव मानव पर-पीडा से पीडित तथा

सुखियों के सुख को सहर्ष सहन कर सके। बल के दुरुपयोग से ही निर्बलताये उत्पन्न होती है। अतः निर्बलताओ का अन्त करने के लिये प्राप्त बल का सदुपयोग अनिवार्य है। वल के सदुपयोग से बल की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। कितना ही अधिक बल क्यो न हो, दुरुपयोग करने पर निर्वलता से और अल्प से अल्प वल क्यो न हो सदुपयोग करने पर सबलता से अभिन्न कर देता है—अर्थात् प्रत्येक सबल को सजगतापूर्वक वल का दुरुपयोग नही करना है। वल के सदुपयोग की सद्भावना तभी उदित होगी जव मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में यह भली-भॉति अनुभव करे कि स्वरूप से शरीर और विश्व का, व्यक्ति और समाज का विभाजन सम्भव नही है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव की आकृति और कार्य भिन्न-भिन्न है, पर एक का कार्य दूसरे के सहयोग मे होने से शरीर मे एकता और अनेकता का बडा ही सुन्दर चित्र दिखाई देता है, उसी प्रकार समाज की प्रत्येक इकाई का कार्य भिन्न-भिन्न होने पर भी यदि प्राकृतिक नियमानुसार एक दूसरे के सहयोग मे होता रहे तो शरीर की भॉति सारा समाज एक है और अवयवो की भॉति प्रत्येक इकाई अलग है। एकता और भिन्नता का स्पष्ट दर्शन तभी होता है जब मिला हुआ पर-हित मे काम आय, व्यक्तिगत सुख भोग के लिये नही। यह सद्-भावना प्रत्येक वर्ग, देश आदि के मानव को अपना लेना अनिवार्य है।

प्रत्येक वर्ग, देश, मजहव एव इज्म के मानव यदि समाज को किसी मान्यता की सीमा मे बॉध दे तो यह सामाजिक भावना की हत्या है। सामाजिक भावना को किसी वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब, इज्म की सीमा मे बॉध देना दलबन्दी है, समाज नही। दल बन्दियॉ सघर्ष की जननी है। सामाजिक भावना एकता तथा शान्ति की जननी है। इस दृष्टि से सामाजिक भावना बड़े ही महत्व की वस्तु है। सामाजिक भावना पुष्ट होते ही कोई वर्ग, कोई देश, कोई सगठन किसी वर्ग, देश, सगठन के साथ बल का दुरुपयोग

नहीं कर सकता। असामाजिकता को स्वीकार किये विना पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न ही नही होते। सामाजिक सद्भावना में सभी का हित निहित है। इतना ही नही, सामाजिक भावना व्यक्तिगत विकास मे भी उपयोगी है, अनुपयोगी नहीं। सामाजिक भावना का वास्तविक अर्थ है सर्वात्म-भाव। इससे पूर्व सामाजिकता की चर्चा समाज को अपनी खुराक वनाना है। सामाजिक भावना व्यक्ति को समाज की खाद वनाती है। खाद उससे अभिन्न हो जाती है जिसकी वह खाद होती है। सामाजिक भावना से युक्त मानव अपने को विभु पाता है, अर्थात् सामाजिक भावना व्यक्ति को विभु कर देती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जव मानव प्राप्त-विवेक के प्रकाश मे अपनी ओर देखे। पालन, पोपण, शिक्षण पाकर ही मानव कुछ देने के योग्य होता है। इससे यह स्पष्ट ही है कि लिया हुआ देना है। लिये हुए को न देने की भावना असामाजिकता को जन्म देती है, यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार जो कुछ मिला है वह देने के लिए ही है, सग्रह के लिये नही, ममता के लिये नही। मिले हुये को अपना मानना, उससे तद्रूप हो जाना कामनाओ को जन्म देना है, जो मानव को पराधीनता, जड़ता एव अभाव मे आवद्ध करता है। सामाजिक भावना व्यक्ति के कल्याण मे साधन रूप है और व्यक्ति-गत निर्माण की अभिरुचि सामाजिक भावना की जननी है। इस दृष्टि से समाज से व्यक्ति का और व्यक्ति से समाज का विकास होता है।

विकसित व्यक्ति समाज के लिए और सुन्दर समाज व्यक्तियो के विकास के लिये उपयोगी है। व्यक्ति और समाज का विभाजन उसी प्रकार है जिस प्रकार शरीर और उसके अवयवों का विभाजन। कोई भी अवयव पूरा शरीर नही है, पर प्रत्येक अवयव शरीर से अभिन्न है। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति समाज से अभिन्न भी है और उनमे भिन्न भी। विवेक पूर्वक देखने से यह स्पष्ट ही है कि

जो कुछ दिखाई देता है वह उस का दृश्य है जो उसे देखता है। दृश्य और देखने के साधन दोनो ही दृश्य के ही अन्तर्गत हैं। इस का अर्थ यह है कि देखने वाला एक है और देखने के साधनो में तथा दृश्य मे अनेकता है। यदि दृश्य और देखने के साधन उसके अन्तर्गत न होते, जो एक है, तो इन तीनो का सम्वन्ध ही न सिद्ध होता। जो देखता है, जव वह दृश्य से सुख की आशा करता है तब वह अपने मे परिच्छिन्नता और पराधीनता पाता है, पर सुखमय दु:खमय दृश्य को देख जव मानव प्रसन्न तथा करुणित होने लगता है तव उसमे व्यक्तिगत सुख-भोग की रुचि नही रहती और न काम की ही उत्पत्ति होती है। निष्कामता और योग प्राप्त होने पर अनेकता एकता में ही विलीन होती है। उसी एकता का समर्थन करने के लिये व्यक्ति और समाज में पारस्परिक एकता अनिवार्य है। अनेकता का उद्‌गम एक है और अनेकता अन्त मे एक हो मे विलीन होती है। अतः एक और अनेक का स्वरूप से विभाजन नही है। पारस्परिक विकास में सहयोग देने के लिये ही व्यक्ति और समाज की भिन्नता और एकता है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि अर्थात् विचार-पथ से समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था है और आस्तिकवाद अर्थात् विश्वास-पथ की दृष्टि से यह सब कुछ अनन्त की अनुपम लीला है एव भौतिकवाद अर्थात् कर्त्तव्य-पथ की दृष्टि से समस्त सृष्टि एक इकाई है और कुछ नही। जो स्वरूप एक परिवार का है, वही समाज का है। जिन साधनो से पारिवारिक विकास होता है उन्ही साधनो से सामाजिक विकास होता है। एक ही परिवार मे युवक, युवती तथा वृद्ध और बालक रहते है। परिवार के वे सदस्य जो समर्थ हैं, असमर्थ बालक और वृद्ध की सेवा करते है। यही सद्‌भावना समाज के लिए भी उपयोगी है। समाज की सगृहीत-शक्ति तथा सम्पत्ति समाज के उस भाग की सेवा में जो असमर्थता से पीडित है, व्यय होना

चाहिए, अर्थात् रोगी, बालक, वृद्ध तथा समाज के वे इने-गिने व्यक्ति जिनका सारा समय सत्य की खोज तथा सेवा में व्यय होता है, अर्थात् समाज का जो वर्ग उत्पादन करने में असमर्थ है, संगृहीत सब प्रकार की शक्तियाँ उसी वर्ग की सेवा के लिए हैं। व्यक्तिगत सुख-भोग के लिए संगृहीत सम्पत्ति आदि का व्यय करना समाज और व्यक्ति मे स्थायी भेद तथा भिन्नता को जन्म देना है, जो विनाश का मूल है। रोगी, बालक, वृद्ध उपार्जन में असमर्थ हैं और सेवा में रत तथा सत्य की खोज मे लगे हुए मानव को उपार्जन का अवकाश नही है। इस दृष्टि से वे संगृहीत सम्पत्ति के अधिकारी है। समाज के इन वर्गों की जब यथोचित सेवा नही होती तब सुन्दर समाज नही रहता। अल्पसंख्यक अधिक सुखी हो जाये और बहुसंख्यक बहुत दुःखी हो जाये अर्थात् कुछ लोगो के पास आवश्यकता से अधिक सामग्री हो और कुछ लोगो को आवश्यक वस्तु भी उपलब्ध न हो, ऐसी भयंकर परिस्थिति मे अनेकों संघर्ष उत्पन्न होते हैं। ऐसी दशा मे विचारशील मानव सेवा-परायण होकर सेवा की सद्भावना को व्यापक कर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित करते हैं। सेवा का अर्थ बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नही है अपितु बल का सदुपयोग ही सेवा का क्रियात्मक रूप है और सर्वहितकारी सद्-भावना सेवा का भावात्मक रूप है और व्यक्तिगत सुख के प्रलोभन का नाश और अपने समान ही सभी मे प्रियता स्वीकार करना सेवा का विवेकात्मक रूप है। क्रियात्मक, भावात्मक, विवेकात्मक सेवा अपना लेने पर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित होती है।

व्यक्ति माली है और समाज वाटिका। वाटिका का माली वाटिका की सेवा मे रत भी रहता है और उसी पर निर्भर भी। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनों ही पारस्परिक विकास में हेतु है। समाज की अधिक संख्या सुन्दर व्यक्तियों की आवश्यकता

अनुभव करती है; कारण, कि एक एक सुन्दर व्यक्ति के पीछे अनेकों व्यक्ति चलते है। इस दृष्टि से समाज सेवा का क्षेत्र है और व्यक्ति सेवक है। सेवा जिसकी की जाती है उसकी अपेक्षा उसका अधिक विकास होता है जो सेवा करता है। इस दृष्टि से समाज व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। पर जो मानव निज-विवेक के प्रकाश में स्वयं अपने को सुन्दर नही बनाता वह सेवा नहीं कर पाता। सेवा करने के लिये सर्व प्रथम अपने को सुन्दर बनाना अनिवार्य है। जो एकमात्र प्राप्त बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर से ही सम्भव है। व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण एक ही सिक्के के दो पहलू है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति से सुन्दर समाज का निर्माण और निर्ममता, निष्कामतापूर्वक सहज निवृत्ति से व्यक्ति का कल्याण होता है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का अन्त सहज निवृत्ति में होता है और सहज निवृत्ति से सर्व-हितकारी प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है। जिसे अपने लिये त्याग अभीष्ट नही है उस के द्वारा सर्व-हितकारी प्रवृत्ति सम्पादित नहीं होती और जिसका हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित नही है, उस में त्याग का बल नही आता। इस दृष्टि से व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण एक ही जीवन का कार्यक्रम है। इन दोनों में विभाजन करना और इनको अलग अलग मानना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है।

मानव स्वभाव से हा दूसरों की दृष्टि में आदर के योग्य होना चाहता है। इसी माँग से प्रेरित होकर सेवा के योग्य न होने पर भी सेवा करने लगता है और फिर असफल होकर पर-निन्दा में प्रवृत्त होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि जिस अंश में अपने को सुन्दर नही बना सका है, भावावेश में आकर उसी अंश मे दूसरों की सेवा करने का प्रयास करने लगता है, जो नहीं कर सकता। इस दृष्टि से समाज की सेवा उसी अंश में की जा सकती

है जिस अंश मे अपने को सुन्दर वना लिया है। समाज का विकास और ह्रास व्यवितयों की सजगता तथा असावधानी पर ही निर्भर है। सामूहिक माँग प्राकृतिक नियमानुसार सुन्दर व्यक्तियों को जन्म देती है। इस दृष्टि से व्यक्ति के सुन्दर होने में अदृश्य रूप से समाज भले ही हेतु हो, किन्तु समाज के उत्थान का क्रियात्मक कार्य-क्रम सजग व्यवितयो से ही आरम्भ होता है और समाज के विनाश का बीज भी प्रमादी व्यक्तियो से ही उत्पन्न होता है। एक एक व्यक्ति की भूल से अनेकों परिवार नष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टि से महत्त्व उन्ही व्यक्तियों का है जो सजग है। व्यक्ति होने मात्र से समान मूल्याँकन करना किसी चतुर व्यक्ति की वह नीति है जो अनेकों व्यक्तियों को थपकी देकर उन पर शासन करना चाहता है। सुन्दर व्यक्ति स्वयं के द्वारा उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होते हैं और अदृश्य रूप से चराचर जगत् उनकी सेवा करता है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत सौंदर्य भी किसी की उदारता, सेवा तथा प्रियता ही है। व्यक्ति ने वास्तविकता की खोज की है, वास्तविकता किसी व्यक्ति विशेष की उपज नही है। खोज से उसी की प्राप्ति होती है जिस का स्वतन्त्र अस्तित्व सदैव है। जिस प्रकार मीठापन सभी मिठाइयों में चीनी का ही है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में सौंदर्य उसी का है जो सभी का सव कुछ होने पर भी सभी से अतीत है, जिस की माँग वीज रूप से मानव मात्र मे विद्यमान है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब व्यक्ति समाज की सेवा में रत रहने पर भी समाज से कोई आशा नही करता। समाज से आशा वे ही करते हैं जो समाज की वास्तविक सेवा नही कर सकते अपितु सेवा के रूप मे मान और भोग का ही आह्वान करते है। मान और भोग की रुचि रखते हुए कभी भी सेवक होना सम्भव नही है। सेवक वही हो सकता है जिस के जीवन में पर-पीड़ा सदैव रहती है। पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर सेवा करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। मिली

हुई सामर्थ्य का सदुपयोग ही सेवा का क्रियात्मक रूप है। इस दृष्टि से व्यक्ति सेवक है और समाज सेव्य। सेवक में सब कुछ सेव्य का होता है, अतः व्यक्ति में सब कुछ समाज का है। सेव्य को सेवक अति प्यारा होता है। अत. व्यक्ति समाज का प्यारा है। अपने प्यारे की महिमा भला किसे प्रिय न होगी और जिसका सब कुछ है, भला वह किसे प्रिय न होगा ? इस कारण व्यक्ति समाज का प्यारा है और समाज व्यक्ति का।

अध्यात्मवाद व्यक्ति को समाज से असग नही करता अपितु व्यक्तिगत सुखासक्ति से असग करता है, जिसके होते ही प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से कर्त्तव्य के अभिमान तथा फलासक्ति से रहित, समाज की सेवा स्वतः होने लगती है। इस दृष्टि से अध्यात्मवाद सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक है, बाधक नही। अध्यात्मवाद की वास्तविकता से अपरिचित होने पर ही कोई भले ही कहने लगे कि अध्यात्मवाद सुन्दर समाज के निर्माण मे बाधक है। अध्यात्मवाद असगता और एकता का समर्थक है; कारण, कि अध्यात्मवादी ने दृश्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नही किया है। इस कारण असगता की वात अध्यात्मवाद में है पर अपने से भिन्न की सत्ता को भी स्वीकार नही किया इस दृष्टि से सर्वात्म-भाव की प्रेरणा अध्यात्मवाद में है। अध्यात्मवादी की सेवा अभेद-भाव से होती है, भेद-भाव से नही, पर सेवा से अरुचि की बात अध्यात्मवाद में नही है। अध्यात्मवाद का आरम्भ त्याग से होता है और अन्त सेवा में और भौतिकवाद का आरम्भ सेवा से होता है और अन्त त्याग में। सेवा समाज के लिए और त्याग अपने लिए अनिवार्य है। सेवा में त्याग का वल और त्याग से सेवा की सामर्थ्य स्वत. आती है। ये दोनो परस्पर एक-दूसरे के पूरक है, बाधक नही। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद दोनो को समान ही अभीष्ट है। व्यक्ति किसी वाद को क्यों न माने,

वास्तविकता की प्राप्ति के लिए कोई भी वाद बाधक नही है। बाधक तो एकमात्र व्यक्ति का अपना प्रमाद है। प्रत्येक वाद का उद्‌गम मानव-जीवन है। जब मानव अपनी माँग और दायित्व से परिचित हो जाता है तब उसे सभी वाद, पथ से भिन्न कुछ नहीं मालूम होते। पथ चाहे जैसा हो उस पर चलने से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती ही है। किसी भी पथ का पथिक हो किन्तु यदि बल का दुरुपयोग और विवेक का अनादर करता है, तो सिद्धि नही पाता। बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने पर प्रत्येक मानव सफलता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

विकसित व्यक्तियों से समाज का अहित नही होता और विकसित समाज से किसी व्यक्ति का अहित नही होता, कारण, कि इन दोनों का लक्ष्य एक है। लक्ष्य की एकता होने से पारस्परिक स्नेह सुरक्षित रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार स्नेह ही वह तत्त्व है जो अहितकर चेष्टाओं का अन्त कर देता है। इस दृष्टि से विकसित व्यक्ति समाज के लिए और विकसित समाज व्यक्ति के लिए सर्वदा उपयोगी ही सिद्ध होता है। स्नेह की माँग मानव की तो कौन कहे, प्राणी मात्र को स्वभाव से है। माँग उसी की होती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि स्नेह से सभी की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। स्नेह का आदान प्रदान सभी को अभीष्ट है। परन्तु व्यक्तिगत सुख-भोग का प्रलोभन तथा दुःख का भय स्नेह को आच्छादित कर लेता है, तब व्यक्ति और समाज के बीच खाई उत्पन्न हो जाती है। विद्यमान मानवता के विकसित होने पर ही व्यक्ति और समाज के बीच का भेद तथा दूरी नाश होती है। मानवता ही वह तत्त्व है जो सभी के लिए सर्वदा हितकर है। मानवता-युक्त मानव की माँग सदैव समाज को रहती है। अमानवता का अन्त करने के लिए ही समाज मे भिन्न-भिन्न प्रकार की सस्थाओं तथा संघो का जन्म होता है। परन्तु उन सब में प्राण रूप मानवता

ही है। मानवता रहित मानव न तो अपने लिये ही उपयोगी है और न अन्य के लिये। अतः मानवता व्यक्तिगत होने पर भी सामाजिक भावना से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनों ही एक-दूसरे के लिये उपयोगी है। व्यक्ति और समाज में विरोध की कल्पना भ्रममूलक है।

एक से अधिक व्यक्ति मिलकर जब अपनी-अपनी निर्बलताओं का अन्त करने के लिये पारस्परिक सहयोग प्रदान करते है और निर्बलताओ से रहित होते है तब सघ का जन्म होता है। इस दृष्टि से संघ पारस्परिक विकास का साधन मात्र है। साधन किसी साध्य के लिये अभीष्ट है। साध्य मानव मात्र का एक ही है वह यह कि जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो। प्रेम के अभाव में ही समस्त दोष पोषित होते है। प्रेम का अभाव तभी तक रहता है जब तक मानव व्यक्तिगत सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत सुख-भोग में ही करता है। व्यक्तिगत सुखासक्ति को मिटाने के लिये ही पारिवारिक प्रथा का आरम्भ होता है, परन्तु जब परिवार के सदस्य व्यक्तिगत सुख को सुरक्षित रखने के लिये पारिवारिक प्रणाली को अपनाते है तब परिवार और समाज मे, तथा व्यक्ति और परिवार में भेद उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है। व्यक्तिगत सुख का प्रलोभन व्यक्तित्त्व के मोह को पुष्ट करता है। व्यक्तित्त्व का मोह जीवन मे सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति नही होने देता, जो अवनति का मूल है।

विकसित व्यक्तियो से ही सघ, सस्थाये तथा राष्ट्र आदि में सुन्दरता आती है। वह सुन्दरता संघ, सस्था तथा राष्ट्र की नही है, कारण, कि जब उनमे विकसित व्यक्ति नही रहते तब परस्पर में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से यह मानना कि किस प्रणाली में सौन्दर्य है यह धारणा भ्रम रहित नही है। तात्कालिक समस्याओं को हल करने के लिए भले ही किसी प्रणाली का समर्थन तथा विरोध हो किन्तु कोई भी प्रणाली ऐसी नहीं हो सकती कि

जिसमे विकसित मानव हों और वह उपयोगी न हो और व्यक्तित्त्व के मोह तथा सुखासक्ति मे आवद्ध मानव सभी प्रणालियों को अनुपयोगी सिद्ध कर देते हे। उपयोगिता और अनुपयोगिता किसी प्रणाली की सीमा में आवद्ध नही है। प्रणाली तात्कालिक समस्या का हल है किन्तु सुन्दर व्यक्तियो द्वारा ही स्थायी रूप से समस्याओ का हल होता है। सुन्दर व्यक्तियो का प्रादुर्भाव किसी प्रणाली पर निर्भर नही है अपितु मानव की इस धारणा पर निर्भर है कि वह विवेक-विरोधी कर्म, विश्वास तथा सम्वन्ध का अन्त कर दे, जो व्यक्तिगत सत्सग से ही साध्य है। अपनी समस्याओ पर स्वयं विचार करने से व्यक्तिगत सत्सग सिद्ध होता है, पर यह तव सम्भव होगा जव मानव अपने ह्रास का कारण किसी और को न माने और किसी अन्य से सुख की आशा न करे अपितु पर-हित की सद्भावना से प्रेरित होकर प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सदुपयोग करे। इससे वडी ही सुगमतापूर्वक प्रणालियो की आसक्ति मिट जायगी और सभी प्रणालियो से व्यक्ति और समाज का विकास होगा। प्रणाली की आसक्ति भी परस्पर एक गहरा भेद उत्पन्न करती है। अपनी-अपनी प्रणाली से अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन को सुन्दर बनाया जाय और उस सुन्दरता से परस्पर अनेक वाह्य भेद होने पर भी वास्तविक एकता स्थापित की जाय। यही सुगम, सहज तथा अनुपम प्रयोग ह। प्रणाली का उपयोग केवल बल के दुरुपयोग करने वालो को दुवल वनाने में हे। कोई भी प्रणाली स्थायी विधान नहीं ह। स्थायी विधान तो सुन्दरता का सम्पादन कर दूसरो को सुन्दरता पूर्वक सुन्दर वनाने मे है। प्राप्त वल का उपयोग किसी को निर्वल वनाने मे नही करना है अपितु निर्वल को सवल वनाने में करना है। सवल और निर्वल मे भेद, वल के दुरुपयोग से होता है। वल का सदुपयोग सवल और निर्वल मे एकता स्थापित करता है, जो विकास का मूल है। भिन्नता से ही अनेको सघर्ष होते है। अतः सर्वतोमुखी

विकास तथा शान्ति के लिये भिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी होगा जब अपनी-अपनी प्रणाली का अनुसरण करते हुए दूसरो की प्रणाली का आदर करे। यह सजगता पूर्वक ध्यान रहे कि अपनी प्रणाली से अपने को सुन्दर बनाना है। समाज को सुन्दरता अभीष्ट है, प्रणाली नही।

बल का दुरुपयोग न करने का विधान प्रत्येक सघ तथा सस्था को अपनाना है अर्थात् मानवमात्र को बल के दुरुपयोग का अधिकार नही है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या अपनी रक्षा के लिए तो बल का दुरुपयोग किया जा सकता है? कदापि नही, कारण, कि बलपूर्वक सबल पर विजयी होना तो सम्भव नही है, बल का उपयोग केवल निर्बलो के प्रति होता है। प्राकृतिक-नियमानुसार निर्बलो की रक्षा मे अपनी रक्षा निहित है। यदि सबल सघ, सस्था आदि अपने प्रति बल का दुरुपयोग करे तब भी उसके प्रति बुरी भावना नही करना है। बलपूर्वक शरीर आदि वस्तुओ पर अधिकार हो सकता है, पर मानव की मानवता पर कोई भी बल विजयी हो नही सकता। इस दृष्टि से मानव-जीवन में सबल से भयभीत होने का कोई स्थान ही नही है। प्रसन्नतापूर्वक शरीर आदि वस्तुओ का बलिदान कर मानवता को सुरक्षित रखना है। मानवता वह अविनाशी तत्त्व है जो मानव-समाज के हृदय पर सतत् साम्राज्य करती है। समस्त विधान सोई हुई मानवता के जगाने मे ही हेतु है। अतः किसी भी सघ, सस्था, राष्ट्र, मजहब, इज्म में यदि जीवन है तो मानवता का। मानवता रहित सघ, सस्था आदि केवल सघर्ष को ही जन्म देती है, जो विनाश का मूल है। सभी के अधिकार सुरक्षित रहे और मानव सुगमतापूर्वक शान्ति, स्वाधीनता एव प्रेम से अभिन्न हो जाय, इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी का प्रयास होना चाहिये तभी व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव है। पवित्रतम उद्देश्य को भूलकर जो विकास की बात

कही जाती है वह भ्रम-मूलक है। सभी वर्गों, देशों की माँग यह है कि हमारे प्रति सबल, बल का दुरुपयोग न करे। जिसकी माग सभी को है उसे सभी को अपनाना है। यही मगलमय विधान है। इस दृष्टि से बल के दुरुपयोग का किसी को अधिकार नही है। अन्याय का प्रतिकार, न्याय तथा प्रेम से ही सम्भव है। इस प्राकृतिक विधान का आदर प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश, समाज, इज्म, मजहब आदि को करना है। ऐसा करने पर प्रत्येक वर्ग, समाज और देश स्वयं इतना सुन्दर हो जायगा कि उस पर आक्रमण करने का किसी को साहस ही न होगा; कारण, कि आक्रमण उस पर होता है जिस वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्ति निकटवर्ती जन-समाज पर अन्याय करते रहते है। उसी किये हुए अन्याय से एक ऐसी सामूहिक भावना उत्पन्न होती है जो किसी दूसरे वर्ग, देश आदि में विरोधी शक्ति उत्पन्न करती है, जो सघर्ष का मूल है। जिसने किसी के प्रति कभी अन्याय नही किया उसके प्रति अन्याय करने का किसी को भी साहस नही हो सकता। व्यक्तिगत रूप से यह देखा, सुना जाता है कि क्षमा-शीलता, अहिसा के पुजारियो की भी हिसा हुई। इसका अर्थ यह नही है कि जो न्याय तथा प्रेम से युक्त है, उसके प्रति अन्याय हुआ। इस प्रकार की घटनाये उन इने-गिने व्यक्तियो के प्रति होती है जिनके वास्तविक जीवन का प्रसार प्राकृतिक विधान को अभीष्ट है। निर्दोष जीवन पर जब दोष का आक्रमण होता है तब निर्दोषता की सद्-भावना व्यापक होती है। शरीर आदि की भेट दे देना निर्दोषता की अतिम पूजा है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होने न्याय तथा प्रेम को अपना कर अपने को इतना सुन्दर बना लिया है कि जिन्हे शरीर आदि वस्तुओं की आवश्यकता ही नही है। शरीर निर्दोषता की व्यापकता में आवरण है। इसी कारण जब निर्दोषता के लिये उस आवरण का बलिदान हो जाता है, तब न्याय तथा प्रेमयुक्त सद्भावनाये व्यापक होकर सतत् कार्य करती रहती है।

इस दृष्टि से क्षमाशीलता तथा अहिसा के पुजारियो को वलिदान देना पड़ा। यदि ऐसा न हो तो भावना के स्थान पर शरीर की पूजा हो सकती है, जो अवनति का मूल है। मानव का जीवन उसका शरीर नहीं है अपितु उसमें जो शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम है वही जीवन है। शरीर का नाश हो जाना उस जीवन में कोई क्षति नहीं पहुँचाता अपितु अन्याय के प्रतिकार में वह शरीर काम आता है। किसी अन्य के विनाश से अन्याय का प्रतिकार उतना स्पष्ट नही होता जितना अपने व्यक्तित्त्व के नाश से होता है। व्यक्तित्त्व के मोह में आबद्ध होने पर ही तो अन्याय का जन्म होता है। अत. अन्याय के प्रतिकार के लिये यदि शरीर, प्राण तथा व्यक्तित्त्व का मोह गल जाय तो न्याय तथा प्रेम की भावना स्वत. व्यापक हो जाती है। वास्तविकता की व्यापकता के लिये सब कुछ देना पडता है। सब कुछ देने पर ही वास्तविकता का प्रसार होता है। जिसके लिये मानव प्रसन्नतापूर्वक अपना कुछ नही दे सकता, वह उसका प्रेमी कैसा ? न्याय अपने को निर्दोष बनाने में हेतु है और प्रेम अपने को विभु बनाने में समर्थ है। अपने प्रति न्याय करने पर सभी के प्रति प्रेम स्वतः होता है। प्रेम की अन्तिम भेट है 'अहम्' और 'मम' को अर्पित करना। जो शरीर अपना रहा ही नही यदि उसका किसी ने विनाश किया तो अपनी क्या क्षति हुई ? यह क्षति उन्हे प्रतीत होती है जो शरीर की पूजा करते है और वास्तविकता से दूर रहते है। शरीर की पूजा में अपने शरीर का अभिमान निहित है। अत देहाभिमान रहित होने पर ही यह रहस्य स्पष्ट होता है कि अपने प्रति सर्वांश मे न्याय करने पर अपने में निर्दोषता की अभिव्यक्ति होती है फिर क्षमाशीलता तथा प्रेम से अभिन्नता होती है। क्षमाशीलता तथा प्रेम को व्यापक बनाने के लिए क्षमाशीलो, प्रेमियो तथा अहिसकों पर आक्रमण होता है जो क्षमाशीलता, प्रेम तथा अहिसा के प्रसार मे हेतु है। हिसा का नाश तभी होता है जब अहिसक का सर्वस्व

उसको भेट हो जाता है। अहिसक के प्रति की हुई हिसा, हिंसा के नाश मे हेतु है, हिसक के नही। हिंसा का उत्तर हिसा पूर्वक देने से हिसा की भावना सवल तथा स्थायी होती है। प्राकृतिक नियमानुसार क्रोध पर क्षमाशीलता, हिसा पर अहिसा और द्वेप पर प्रेम विजयी होता है। पर उसके लिये क्षमाशील, अहिसक तथा प्रेमियों को शरीर आदि सर्वस्व देना पड़ता है।

प्राप्त बल का दुरुपयोग न करने पर उत्तरोत्तर वल की वृद्धि होती है। यदि यह नीति प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग तथा देश अपनाये तो सभी सवल हो जायेगे और फिर परस्पर सघर्प का जन्म ही न होगा। वल के दुरुपयोग से ही निर्वलता पोपित होती है और सघर्ष का जन्म होता है। बल के दुरुपयोग न करने की नीति का अनुसरण मानव मात्र को करना है तभी ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसे किसी शासक की आवश्यकता न होगी। देश तभी किसी से शासित होता है जब देश-वासी परस्पर बल का दुरुपयोग करते है। वल के दुरुपयोग से अन्याय का प्रतिकार करने पर अन्याय किसी न किसी अश मे जीवित रहता है, जो कालान्तर में पुन सवल हो जाता है। यदि अन्याय का सर्वाश में नाश करना है तो वल के दुरुपयोग न करने की नीति को अपना लेना अनिवार्य है।

बलपूर्वक अन्याय को दबाने से अन्याय का सर्वाश में नाश नही होता। अन्याय का नाश होता है अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रम और क्षमा का व्यवहार करने से। बल पूर्वक वल का दुरुपयोग रोकने का प्रयास वल के दुरुपयोग को मिटाने में सफल नही हुआ और न सम्भव है। शक्ति का वहुत वड़ा भाग न्यायशाला, पुलिस, फौज आदि मे व्यय हो जाता है। शिक्षा, चिकित्सा आदि जीवनोपयोगी कार्य अधूरे रह जाते है। यदि मानव-समाज अन्याय पर न्याय से, क्रोध पर क्षमा से और द्वेष पर प्रेम से विजयी होने का प्रयास करे तो वड़ी ही सुगमता पूर्वक बल के दुरुपयोग

की भावना का नाश हो सकता है। जो उपाय व्यक्तिगत विकास में हेतु है, वही सामूहिक विकास में भी समर्थ है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा जब व्यक्तिगत जीवन सुन्दर हो, जो एकमात्र बल के दुरुपयोग न करने में ही निहित है। किसी से शासित रहने के समान मानव-जीवन का और कोई अपमान नही है। अपने पर अपना शासन करने पर ही मानव, पर के शासन से मुक्त होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

यह सभी को विदित है कि जीवन-उपयोगी आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम एव प्राकृतिक पदार्थो से ही होता है और उन वस्तुओ का उपयोग प्राणियो की सेवा में करना अनिवार्य है। परन्तु जव आवश्यक वस्तुओं के बदले में मानव ऐसी वस्तुओ का सग्रह करने लगता है जो दीर्घ काल तक सुरक्षित रह सकती हैं और उनके बदले मे अन्य वस्तुएँ मिल सकती है तब समाज में कुछ लोग अधिक सुखी और कुछ लोग अधिक दुखी हो जाते हैं। जब तक मानवता के नाते सुखी दु खी वर्ग एक-दूसरे से सहयोग रखते है तब तक विप्लव दवा रहता है परन्तु जब श्रम और सग्रह अर्थात् परिश्रम और परिग्रह में परिग्रह का मूल्य बढ जाता है और परिश्रम का घट जाता है तब व्यक्ति वस्तु के अधीन हो जाता है। उसका बड़ा ही भयकर परिणाम यह होता है कि परिग्रही शारीरिक तथा बौद्धिक श्रमिको को अपने अधीन कर लेता है। परिग्रह से विलास तथा आलस्य का जन्म होता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन तथा उपयोग प्राणियों की सेवा मे ही करना न्याय-युक्त है। समाज का वह वर्ग जो उपार्जन में असमर्थ है उसी के निमित्त परिग्रह करना आवश्यक है। चाहे उस पर अधिकार व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रगत। जब व्यक्तियो में दोष आ जाते है तब व्यक्तिगत परिग्रह के विरुद्ध आवाज उठती है पर राष्ट्रगत परिग्रह के उपयोग की

व्यवस्था भी तो व्यक्तियो के द्वारा ही होती है। राष्ट्र का जन्म किसी भी प्रणाली से हो परन्तु उसे जनता का ही प्रतिनिधि माना जाता है। जव तक राष्ट्र के कर्मचारियो में यह सद्भावना रहती है कि हम जनता के सेवक है तव तक तो व्यवस्था यथावत चलती है, किन्तु जव पदलोलुपता एव सुखासक्ति राष्ट्रगत प्रवन्धको में आ जाती है तव परिग्रह का दुरुपयोग होने लगता है और फिर उस राष्ट्र के अनर्थ से जनता जनार्दन को वचाना कठिन हो जाता है। व्यक्तिगत परिग्रह में तो परिग्रह का ही वल है परन्तु राष्ट्रगत परिग्रह में एक शासन का वैधानिक वल भी है। व्यक्ति के विगड़ जाने पर कोई भी प्रणाली हितकर सिद्ध नही होती। सुन्दर व्यक्तियो का निर्माण सुन्दर व्यक्तियों के ही द्वारा होता है राष्ट्र के द्वारा नही। परिग्रह-रहित मानव सेवा की सद्भावना तथा प्रेम से पूर्ण एवं राग-द्वेष रहित होकर ही सुन्दर मानव का निर्माण कर सकते हैं अर्थात् मानवता के वल से ही सुन्दर मानव होते है। परिग्रह एवं शासन के वल पर सुन्दर व्यक्तियों का निर्माण सम्भव नही है। इस दृष्टि से अपरिग्रही मानव का वड़ा महत्त्व है पर समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, इससे भी कालान्तर में वड़ा ही अनर्थ हो सकता है। राष्ट्रगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनों ही प्रणालियां तभी हितकर सिद्ध होती है जव व्यक्ति सुन्दर हों।

संग्रह का अधिकार उन्ही लोगों को है जो अपने लिये सग्रह नहीं करते। समाज के वालक, समाज की सम्पत्ति और समाज के वे मानव जिन्होने जितेन्द्रियता, सेवा तथा सत्य की खोज एव सार्थक चिन्तन का व्रत लिया है इन्हे एक स्थान पर आजाना चाहिये अर्थात् सेवक और सेव्य के साथ ही परिग्रह उपयोगी सिद्ध होता है। व्यक्तिगत सुख-भोग के लिये ही परिग्रह के त्याग की वात है। राष्ट्र का आश्रय लेकर सेवा तव सम्भव होती जव राष्ट्र के कर्मचारी सेवक होते। भोगी के द्वारा सेवा की बात सेवा

का उपहास है, और कुछ नही। जिसे व्यक्तिगत मान और भोग की भूख है भला वह कैसे निष्पक्ष सेवा कर सकता है? अर्थात् नही कर सकता। राष्ट्रीयता की भावना भले ही उपयोगी हो पर शासक होने का प्रलोभन तो सर्वथा अनर्थ का ही मूल है। सत्ता के अभिमान में आबद्ध होने पर राष्ट्रो द्वारा क्या नही हुआ? यह विचारणीय प्रश्न है। समाज के कर्णधार वे ही मानव हो सकते है जिन्होने जीवन विभाजन किया है और प्राणी मात्र के साथ सर्वात्म भाव अपनाया है। ऐसे मानव ही परिग्रह के अधिकारी है। जिस प्रकार उदर शरीर के पोषण के लिये कुछ काल अपने में सग्रह करता है, किन्तु उसका उपयोग अपने ही तक सीमित नही रहने देता, उसी प्रकार उदार मानव ही परिग्रह का सदुपयोग कर परस्पर एकता स्थापित कर सकते है। सिद्धाततः सम्पत्ति न राष्ट्रगत है न व्यक्तिगत। सगृहीत सम्पत्ति उन्ही का भाग है जो रोगी, बालक तथा सेवा परायण है एव सत्य की खोज में रत है। अब यदि कोई यह कहे कि राष्ट्रगत सम्पत्ति के विना एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आक्रमण से कैसे बचेगा, तो इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस समाज में मानव-निर्माण की यथेष्ट व्यवस्था है उस समाज के प्रत्येक युवक तथा युवती में राष्ट्रीयता स्वतः सुरक्षित रहेगी। देश की सुरक्षा के नाम पर जो अन्धाधुन्ध अर्थ का व्यय होता है, यहाँ तक कि रोगियो के लिये परिचर्या-भवन और बालको के लिये बाल-निकेतन और उन में सेवा करने वाले अपरिग्रही सज्जनो के लिये नही के समान ही व्यय होता है, उसका परिणाम यह होता है कि युवक और युवतियो के ऊपर बालक, रोगी तथा वृद्धो का भार रहता है। उस से दबे हुए युवक और युवती निर्भीक तथा निश्चिन्त नही हो सकते। भय और चिन्ता में आबद्ध मानव में वीरता नही रहती अपितु कायरता आ जाती है, जिससे राष्ट्रीयता की भावना कुण्ठित हो जाती है।

जिसके होने से राष्ट्र निर्बल हो जाता है और फिर ऐसे बल की खोज करता है कि अल्प-सख्यक वहुसख्यक का विनाश कर सकें। इस विनाशकारी भावना का नाश तभी हो सकता है जब प्रत्येक देश में अपने राष्ट्र के प्रति अविचल आस्था हो, जीवन में राष्ट्रीयता हो परन्तु अमानवता की गध भी न हो। शान्त तथा प्रसन्न रहे और दूसरो को रहने दे। कतिपय व्यक्तियो की भूल से समाज की वहुत बड़ी क्षति होती है। ऐसी दशा मे राष्ट्रीयता भले ही समाज को अपेक्षित हो पर राष्ट्र अपेक्षित नही है। राष्ट्रीयता का वास्तविक अर्थ है अपने पर अपना अनुशासन। अपने पर अपना अनुशासन करने से निर्दोषता सुरक्षित रहती है। निर्दोष जीवन की माँग सभी को सदैव है। अत. निर्दोष मानव ही परिग्रह के अधिकारी है।

यह तभी सम्भव होगा जब वस्तु-विभाजन के स्थान पर जीवन विभाजन का निर्णय किया जाय। अर्थात् प्रत्येक मानव सार्वजनिक सेवा के लिये अपने जीवन का विभाजन करे। सार्वजनिक जीवन होने पर ही सर्वहितकारी सद्भावना पोषित होती है। केवल वस्तु विभाजन मात्र से वस्तु का महत्त्व नही घट जाता अपितु वस्तुओं की दासता ज्यो की त्यों रहती है। वस्तुओ की दासता मे आवद्ध मानव व्यक्तिगत सुख के लिये परिग्रह करने लगता है जो अवनति का मूल है। जितेन्द्रियता तथा सत्य की खोज एवं सार्थक चिन्तन से युक्त सेवा में रत मानव की गोद मे ही वालक-वालिकाओं का पोषण तथा शिक्षण हो तभी भावी समाज सुन्दर हो सकता है। मोह की गोद में पले हुए वालक में नैतिकता का विकास नही होता और अर्थ के अधीन पले हुए वालक में हृदयशीलता विकसित नही होती इस कारण समाज के वालकों को अर्थ और मोह की गोद मे नही पलना चाहिये। मानवता की गोद मे पले हुए बालक मे ही मानवता विकसित होगी अर्थात सेवा, त्याग प्रेम पूर्वक पोषित बालक ही

वास्तविक नैतिकता एवं हृदयशीलता से युक्त होंगे। रोगी परिचर्या भी उन्हीं के द्वारा यथेष्ट होती है जो सेवा-परायण है। वे ही सेवा-परायण मानव जो सत्य की खोज में रत है एव राग रहित है विधान बना सकेंगे और उस विधान का पालन मानव-समाज में करा सकेंगे। यही वास्तविक राष्ट्रीयता है। विनाशकारी सामान के बल पर राष्ट्रीयता के गीत गाने वाले एक बडे डाकुओ के दल के अतिरिक्त और कुछ नही है। बलपूर्वक निर्बल को दबाना और मनमानी करना क्या राष्ट्रीयता है? कदापि नही। राष्ट्रीयता न्याय की स्थापना है जो अपने द्वारा अपने प्रति हो सकती है। इस दृष्टि से न्याय किसी अन्य के द्वारा सम्भव नही है, तो फिर राष्ट्रगत न्यायशाला क्या अर्थ रखती है? राष्ट्र के रहते हुए भी अन्याय निर्मूल नही हुआ, इस सत्य से कोई भी विचारशील अपरिचित नही है। फिर भी राष्ट्र की माँग अनुभव करना और राष्ट्रीयता से विमुख होना क्या व्यक्तिगत मान और भोग के अतिरिक्त कुछ और है? विचार करे—मान और भोग का पुजारी भला कब निष्पक्ष हो सकता है? निष्पक्ष वही हो सकता है जिसे सार्वजनिक हित में ही व्यक्तिगत हित का दर्शन होता है।

यह सभी को विदित है कि प्राकृतिक पदार्थ किसी व्यक्ति, वर्ग, देश की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही है। उस पर सभी का स्वत्व है। उन्ही प्राकृतिक पदार्थो से, शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के सहयोग से, समाज हितकारी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। मूल साधन प्राकृतिक होने के कारण उत्पादन कर्ताओं पर यह दायित्व है कि वे उत्पादित वस्तुओं में व्यक्तिगत संग्रह की भावना न रखे। अपितु एक देश का उत्पादन दूसरे देश के लिये भी उपयोगी सिद्ध हो। यही वास्तविक वाणिज्य है। वणिक समाज का उदर है। उदर की भाँति व्यापारी वर्ग को उदार होना चाहिये। व्यापार की यह नीति कि उत्पादित वस्तु अधिक से अधिक महँगी

हो जाय और उत्पादन के साधन सस्ते हो जाये, सर्वथा त्याज्य है। इस नीति ने ही अल्पसंख्यक को सुखी और वहुसख्यक को दुःखी किया है। उस का परिणाम यह होता है कि परस्पर स्नेह के स्थान पर संघर्ष का जन्म हो जाता है। उत्पादक-हृदय माँ जैसा हो। जिस प्रकार माँ सभी छोटे-वड़े वालको की आवश्यकता पूरी करती है उसी प्रकार व्यापारी वर्ग के हृदय में यह सद्‌भावना रहे कि सभी को आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो जाये। इस दृष्टि से व्यापार एक वडी ही आवश्यक सेवा है। व्यापारी वर्ग परस्पर सहकारिता को अपनाये और प्रतियोगिता का त्याग करे। वौद्धिक श्रमी वर्ग यदि अपनी योग्यता का उपयोग सर्वहितकारी कार्य में करे, तो शारीरिक श्रमी एव पूँजी का सग्रही तो वौद्धिक श्रमी का विरोध कर ही नहीं सकते। जिस देश, वर्ग, समाज का शिक्षित व्यक्ति स्वार्थपरायण हो जाता है, अर्थात् व्यक्तिगत सुखासक्ति में आवद्ध हो जाता है वही वर्ग, देश, समाज विनाशोन्मुख होता है। शिक्षित व्यक्तियों के सहयोग के विना विकास और ह्रास होता ही नही। यदि कोई वर्ग, देश, समाज, अवनति की ओर जा रहा है तो यह मानना ही होगा कि शिक्षित वर्ग मानवता से विमुख हो गया है। शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। सामर्थ्य के आश्रय से ही ह्रास और विकास होता है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर स्वत. विकास होने लगता है। राष्ट्र और वर्ग के पतन का कारण शिक्षित समाज का पथ-भ्रष्ट होना है। शिक्षित वर्ग को राग-रहित पुरुषो का परामर्श मानना अनिवार्य है अथवा शिक्षित वर्ग स्वय रागरहित होने का प्रयास करें तभी सुन्दर समाज का निर्माण तथा पारस्परिक सघर्ष का अन्त एवं सर्वतोमुखी विकास हो सकता है। यह सभी को विदित है कि जब वुद्धि विवेकवती नही रहती तव मन में अशुद्ध सकल्प उत्पन्न होते हैं जिनके होते ही दुर्गुण दुराचार आदि दोपों की उत्पत्ति होती

है और जब बुद्धि विवेकवती हो जाती है तब मन निर्विकल्प हो जाता है और इन्द्रियाँ सच्चरित्र हो जाती है अर्थात् सद्गुण सदाचारों की स्वत: अभिव्यक्ति होती है। व्यक्तिगत जीवन में जो बुद्धि का स्थान है वही समाज में शिक्षित व्यक्ति का, जो मन का स्थान है, वही राष्ट्र का और जो इन्द्रियों का स्थान है वही प्रजा का है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि शिक्षित वर्ग के रागरहित होने से सभी अपने अपने स्थान पर सुन्दर हो जाते है। इस दृष्टि से शिक्षित वर्ग पर सभी के विकास का दायित्व है।

विधान किसी व्यक्ति की उपज नहीं है। विधान की खोज वे ही इने-गिने मानव कर पाते है जो राग-रहित है। राग-युक्त मानव वास्तविकता से अपरिचित रहता है। इस दृष्टि से विधान बनाने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को नही है परन्तु किसी प्रतिहिसा की भावना से प्रेरित होकर यह मान लेना कि प्रत्येक मानव विधान-सभा का सदस्य हो सकता है, भ्रममूलक ही है। यह सभी को विदित ही है कि विधान का प्रयोग करने के लिये बड़े बड़े अधिवक्ताओ की अपेक्षा होती है फिर भी विधान के अर्थ-निरूपण में भिन्नता होती है, जिससे वास्तविकना का निर्णय ही नही हो पाता। अब विचार यह करना है कि जिस विधान का अर्थ समझने के लिये अधिवक्ताओ की अपेक्षा है, क्या उस विधान को बनाने का अधिकार जन-साधारण को देना उचित है ? कदापि नही। क्या रोगी के रोग का निर्णय बहुमत से होगा अथवा योग्य चिकित्सक से। विधान मंगलकारी तथ्य है। उसका ज्ञाता वही हो सकता है जो देहाभिमान, पक्षपात, राग, द्वेष आदि विकारो से रहित हो। जन-साधारण को तो विधान का आदरपूर्वक पालन करना है। वे विधायक नही हो सकते। इतना ही नही, किसी राष्ट्र को भी विधायक बनाने का अधिकार नही है, कारण, कि राष्ट्र को अपनी भूल का ज्ञान स्वत नही हो सकता। इस दृष्टि से विधान वीतराग

पुरुष ही बना सकते है। राष्ट्र का निर्वाचन भी जन साधारण के द्वारा करना राष्ट्र को एकदेशीय बना देना है जो पक्षपात रहित हो ही नही सकता। राष्ट्र के निर्वाचन का अधिकार भी उन्हीं इने-गिने व्यक्तियों को है जिन्होंने अपना जीवन समाज सेवा में अर्पित किया है पर उन्हे स्वयं राष्ट्र होने का अधिकार नहीं है। सेवा करने वाला वर्ग राष्ट्र और प्रजा के बीच में स्नेह तथा विश्वास की स्थापना कर सकता है; कारण, कि सेवक दोनों के कर्त्तव्य से परिचित होता है। उसके हृदय में दोनों ही के प्रति सद्भावना रहती है। ऐसा न करने से राष्ट्र और प्रजा के बीच में सदैव सघर्ष होता रहता है और राष्ट्र की शक्ति का बहुत बड़ा भाग अपनी सुरक्षा में व्यय होता है, प्रजा के हित मे नही। इस कारण राष्ट्र का निर्वाचन बहुमत के आधार पर न किया जाय अपितु देश के वे इने-गिने व्यक्ति जो सेवा-परायण है राष्ट्र का निर्वाचन करे और उन सेवा-परायण महानुभावों मे जो वीतराग है वे विधान बनावे। अब यदि कोई यह कहे कि हम वीतराग को कैसे जाने ? इस सम्बन्ध में गभीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सत्-पथ पर अग्रसर मानव स्वयं प्रकाशित हो जाता है। क्या महत् पुरुषों को किसी निर्वाचन से स्वीकार किया जाता है ? कदापि नही। विकसित मानव स्वयं अपने प्रकाशन में आप समर्थ होता है। क्या समय समय पर पद्धतियों का निर्माण बहुमत से हुआ है ? अथवा निर्माणकर्ता स्वयं प्रगट हुए है। बहुमत ने उनका स्वागत किया है, उनका निर्वाचन नही। प्रत्येक काल में, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक देश तथा समाज में यह अपने आप प्रकट हो जाता है कि जन-समाज को किस के पथ-प्रदर्शन में रहना है। अतः वीत-राग पुरुषो का निर्वाचन किसी अन्य के द्वारा सम्भव नही है। सेवा और प्रीति से युक्त मानव उस विधान से अभिन्न होता है जो मगलमय है पर जब तक मानव को यह भासित होता है कि

मुझ में सेवा तथा प्रीति है तब तक वास्तविक विधान से अभिन्न नही होता। जब सेवा और प्रीति तो रहे पर उसमें अहम् भाव की गंध भी न रहे तब अनन्त के मंगलमय विधान से अभिन्नता होती है। अतः जो विधान अनन्त के मंगलमय विधान से अनुप्राणित नही है वह विधान सर्वहितकारी नहीं हो सकता। विधान की खोज करना है, विधान किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत उपज नही है। विधान की खोज प्रत्येक मानव कर सकता है पर उसके लिये सर्वात्म-भाव स्वीकार करना, अहम् और मम से रहित होना अनिवार्य है। जिसे विधायक होना हो, वह विधान से अभिन्न होने के लिये प्रयास करे। सभी विधायक हो सकते हैं, यह बात इसी अर्थ में स्वीकार की जा सकती है कि राग-रहित होने का दायित्व मानव-मात्र पर है। अतः प्रत्येक मानव अपने को इतना सुन्दर बनाये कि उसका जीवन विधान हो जाय। जीवन और विधान की एकता होने पर किसी प्रकार की सुख-लोलुपता नही रहती अपितु उसका जीवन सेवा, प्रेम एवं निरभिमानता से युक्त हो जाता है। जिसमें निरभिमानता आ जाती है वह सभी से अभिन्न हो जाता है और तभी उसके जीवन में सर्वहितकारी विधान की अभिव्यक्ति होती है। वास्तविक विधान की अभिव्यक्ति तो सृष्टि से पूर्व ही होनी चाहिये, कारण, कि समष्टि शक्तियाँ क्या विधान रहित कार्य करती है ? कदापि नही। मानव उस विधान से अभिन्न हो सकता है, पर विधान किसी मानव का बनाया हुआ नही है। उसी अनन्त के विधान का प्रतीक मानव में निज विवेक है। निज विवेक का आदर करने पर कर्तव्य, निज-स्वरूप और अनन्त की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। अत विवेकवित् मानव ही विधान की खोज कर सकते है और विवेकवित् होने का दायित्व प्रत्येक मानव पर है।

—: o :—

दुःख की समस्या

यह मानव मात्र को विदित ही है कि जो न चाहने पर भी आ जाता है वही दु.ख है और जो चाहते हुए भी चला जाता है वही सुख है। दु ख सुख की अनुभूति मानव मात्र को होती है। नवजात शिशु भूख से पीड़ित होकर रोने लगता है। इस दृष्टि से दुःख मानव की सर्व प्रथम अनुभूति है। दु:खी को देख किसी न किसी के हृदय मे करुणा अवश्य जाग्रत होती है। करुणित मानव पर-दु.ख को अपनाता है और निज-सुख को दुःखी की सेवा में व्यय करता है। दु खी दु.खकाल में पराधीनता से व्यथित होता है। पराधीनता की व्यथा स्वाधीनता की लालसा जाग्रत करती है। जो न चाहने पर आता है वह प्राकृतिक विधान है, व्यक्ति का उपजाया हुआ नही है। सुख चाहते हुए भी चला जाता है, मानव में केवल सुखासक्ति भले ही रहे, पर सुख तो चला ही जाता है। इस दृष्टि से दु.ख का आना और सुख का जाना वैधानिक तथ्य है।

अब विचार यह करना है कि दु.ख क्यों है ? यदि जीवन में से दु.ख का भाग निकाल दिया जाय तो न तो सुख का सम्पादन ही हो सकता है और न मानव सुख की दासता से रहित हो सकता है। सुख का सम्पादन और उसकी दासता से रहित करने में दु.ख ही हेतु है। दुःख मानव जीवन का आवश्यक अग है, फिर भी सभी को स्वभाव से प्रिय नही है। जो स्वभाव से प्रिय नही है वह जीवन

नही है, और जिस मे स्थायित्व नहीं है वह भी जीवन नही है। इस दृष्टि से दु.ख तथा सुख वास्तविक जीवन नही है, अपितु दुःख सुख के सदुपयोग में जीवन है। अब यदि कोई यह कहे कि दु.ख तो कर्म का फल है तो यह मानना एकदेशीय दृष्टि से भले ही सत्य प्रतीत हो किन्तु सभी दृष्टियों से यह वास्तविकता नही है। विश्व के इतिहास में क्या कोई ऐसा व्यक्ति हुआ है अथवा है जिस ने किसी न किसी अंश मे दुःख का अनुभव न किया हो ? तो क्या एक भी व्यक्ति ऐसा नही हो सका जो ऐसा कर्म न करता जिससे दुःख होता है ? अर्थात् दु ख का अनुभव सभी को होता है। अतः केवल कर्म ही दु ख का कारण नही है। दु ख की उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है क्या उसका अनुभव दु ख के रहते हुए सम्भव है ? कदापि नही। दु.ख-निवृत्ति का प्रश्न मानव का प्रश्न है, पर जब दु ख नही था तब मैं था यह अनुभव यदि होता तो दु ख कब से आरम्भ हुआ और क्यो आरम्भ हुआ, इसका निर्णय सम्भव था। जब तक दु ख का सर्वांश में अन्त न हो जाय तब तक दु ख के कारण का बोध सम्भव नही है। इस दृष्टि से दु.ख के नाश का प्रश्न मौलिक प्रश्न है। सुख-लोलुपता के रहते हुए क्या किसी भी प्रकार दु ख का अन्त सम्भव है ? कदापि नहा। यदि आया हुआ सुख स्वभाव से नाश न होता तो सुखासक्ति को रखते हुए दु ख मिट सकता था, पर यह प्राकृतिक नियम से सिद्ध नही है कि सुख का नाश न हो। जो नही रहता, उसकी आसक्ति भूल के अतिरिक्त कुछ और नही है। 'नहीं' की आसक्ति ने ही मानव को उससे विमुख किया है जो सर्वकाल में है। दु ख के प्रभाव से प्रभावित बिना हुए सर्वांश में सुखासक्ति का नाश सम्भव नही है। इस दृष्टि से दु ख विकास की भूमि है। दु ख का भय तभी तक रहता है जब तक मानव पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता में आबद्ध है। अत दु ख पराधीनता का अन्त करने के लिये बिना बुलाये आता

है । क्या इस निज-अनुभव से यह स्पष्ट विदित नही होता कि जो दु ख पराधीनता से रहित करने के लिये आया है वह मगलमय विधान से आया है अथवा उसकी देन है जो मानव को पराधीनता से रहित करना चाहता है। मानव उसे भले ही न जाने जिसने दु ख का निर्माण किया है, पर दु.ख का प्रभाव मानव के लिये सर्वतोमुखी विकास मे हेतु है, यह स्वीकार करने के लिये वह वाध्य है ।

प्राप्त विवेक के प्रकाश मे बुद्धि-दृष्टि से देखने पर यह विदित होता है कि कामना अपूर्ति तथा पूर्ति मे ही दुःख सुख का भास होता है । कामनाओ का उद्गम स्वीकृति में अहम् बुद्धि और प्रनीति मे मम-बुद्धि है—अर्थात् अहता तथा ममता से ही दु ख सुख का जन्म होता है । अहम् और मम अविवेक सिद्ध हं । निज-विवेक का आदर करने पर अहम् और मम शेष नही रहते और फिर दु.ख का भय तथा सुख की दासता भी नही रहती । सुख की दासता का सर्वांश में अन्त होते ही दु.ख स्वत. नाश हो जाता है । इस दृष्टि से निज विवेक का अनादर अर्थात् अपनी भूल ही मानव को सुख दुःख में आवद्ध करती है । अव यदि कोई यह कहे कि मानव निज विवेक का अनादर क्यो करता है ? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि निज विवेक के अनादर का वोध क्या मानव को नही है ? यदि है तो उसका कारण उसमें स्वय ही उपस्थित होगा, तो फिर तो उसका समाधान अपने ही द्वारा करना होगा । यदि यह कहा जाय कि मानव को निज-विवेक के अनादर का ज्ञान ही नही है तो उसके कारण की खोज का प्रश्न ही नहीं हो सकता । अत. विवेक के अनादर का कारण क्या है ? यह प्रश्न जव अपना वर्तमान प्रश्न हो जावेगा तब उसके हल की सामर्थ्य स्वत. मानव में अभिव्यक्त होगी । इस दृष्टि से इस प्रश्न का उत्पन्न होना ही हल में हेतु है ।

यह सभी को विदित है कि भूल जाने हुए की होती है। जिसे नही जानते उसके सम्बन्ध में यह नही कह सकते कि भूल गये। मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर बैठता है, इसी कारण वह जाने हुए को भूलता है। यदि मानव-जीवन मे स्वाधीनता न होती तो भूल भी न होती। अन्य प्राणियो मे प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कार्य करने की क्षमता नही है। पर मानव कभी विना भूख भी खाता है और कभी भूख लगने पर भी नही खाता अर्थात् मानव वह भी करता है जो करना चाहिये और वह भी कर बैठता है जो नही करना चाहिये। इतना ही नही, ऐसी कामनाये भी रखता है जिन्हे वर्तमान में पूरा नही कर सकता। अनावश्यक कार्यो को जमा रखना और आवश्यक कार्य को पूरा न करना तथा न करने वाले कार्य को भी कर डालना यह स्वाधीनता मानव मे जन्म-जात है। स्वाधीनता का दुरुपयोग करने पर स्वत दु ख का प्रादुर्भाव होता है, जो सजगता प्रदान कर मानव को सत्-पथ दिखाता है। स्वाधीनता के दुरुपयोग का परिणाम है—दु ख का प्रादुर्भाव। अतः प्राप्त स्वाधीनता का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

यदि मगलमय विधान से मानव को स्वाधीनता न मिलती तो मानव और मानवेतर प्राणी का भेद ही स्पष्ट न होता। मानव साधक है। साधक पर दायित्व होता है और उसकी कोई मांग होती है। मानवेतर प्राणियो में कामना है। वे साधक नही है। इस कारण उन पर कोई दायित्व नही है। उन्हे कामना पूर्ति अपूर्ति का सुख दु ख प्राकृतिक विधान से भोगना पड़ता है। जिस अश मे मानव सुख दु.ख भोगता रहता है, उस अश में मानव-आकृति होने पर भी मानव मानव नही है। मानव में मानवता तभी से आरम्भ होती है जब यह सुख दु.ख से अतीत के जीवन की खोज करता है। इस मौलिक माँग की जाग्रति से पूर्व मानव प्राणी है, मानव नही।

दु:ख क्या है ? और क्यो है ? यह प्रश्न मानव का प्रश्न है, प्राणी का नही, वेचारे मानवेतर प्राणी तो सुख दु.ख भोगते है। मानव को यह विशेषता, जो अन्य प्राणियो में नही है, किससे मिली है ? यह प्रश्न भी मानव का ही प्रश्न है। यदि यह विशेपता उसकी अपनी जन्मजात है तो सुख दु.ख में आवद्ध क्यों हुआ ? सुख-दु.ख अतीत जीवन में क्यों नही सन्तुप्ट हुआ ? कारण, कि जिसकी निवृत्ति अभीष्ट है उसमें अपने आप आवद्ध क्यो होता ? अत अन्य प्राणियों से विशेषता मानव को उससे मिली है जिसे वह भले ही न जानता हो पर जिसने दी है वह मानव को जानता है। जव मानव यह मान लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है वह किसी की देन है, तव उसमें उस विना जाने हुए की आस्था उदित होती है अथवा जो मिला है वह क्या है, मैं क्या हूँ आदि जिज्ञासा जाग्रत होती है। आस्था और जिज्ञासा मानव में ही होती है। जिज्ञासा उसकी, जिसकी प्रतीति है और आस्था उसकी जिसकी माँग है। यदि मानव ने प्राप्त वल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर न किया होता तो मिले हुए के सदुपयोग का दायित्व भी मानव पर न होता। मानव साधक है। साधक होने के नाते मिले हुए के दुरुपयोग न करने का, प्रतीति की जिज्ञासा का एवं जिसे नही जानता है उसकी आस्था का दायित्व है। मिले हुए का दुरुपयोग न करने पर स्वत. कर्त्तव्य-परायणता आती है और जाने हुए का आदर करने पर असंगता प्राप्त होती है एवं विना जाने में आस्था होने पर स्वत. शरणागति उदित होती है। कर्त्तव्य-परायणता से जीवन जगत् के लिये और असगता से जीवन अपने लिये एवं शरणागति से जीवन उसके लिये जिसे मानव नहीं जानता, उपयोगी होता है। वल, विवेक और आस्था जिसने दी है उसे ही मानव नही जानता, जिसे नही जानता उसी की शरणागति स्वीकार करना अनिवार्य है। भौतिकवाद की दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता, अध्यात्मवाद की दृष्टि से असगता और आस्तिकवाद

की दृष्टि से शरणागति ही सर्वतोमुखी विकास का मुख्य साधन है। दु:ख-निवृत्ति, परमशान्ति, स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

अत दु:ख का आना, सुख का जाना मानव हितकारी विधान है। दु ख से भयभीत होना और सुख में आबद्ध रहना मानव का प्रमाद है, जिसका अन्त करना मानव मात्र के लिए अनिवार्य है। दु ख के प्रभाव ने ही दु:खी को दु खहारी से अभिन्न किया है। इस दृष्टि से दु ख जीवन का बहुत ही आवश्यक अग है। दु ख से वे ही भयभीत होते है जिन्हे दु खहारी से अभिन्न नही होना है। अब यदि कोई यह कहे कि दु:खहारी कौन है ? उसमे आस्था करना तो एक मात्र बिना जाने हुए में आस्था करना है। क्या जो इन्द्रिय-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि से देखने मे आता है, वह आस्था के योग्य है ? उसकी आस्था ने ही तो ममता, कामना तथा तादात्म्य को जन्म दिया है, जिसके कारण मानव पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि मे आवद्ध हुआ है, जो किसी को स्वभाव से अभीष्ट नही है। अतएव, यह स्पष्ट ही विदित है कि देखा हुआ आस्था के योग्य नही है। इस दृष्टि से यदि आस्था हो सकती है तो एकमात्र उसी में, जिसे जानते नही है। यदि किसी को विना जाने की आस्था अभीष्ट नही है तो उसे अपने को आस्था से रहित करना होगा। आस्था रहित होने पर भी जो 'है' उसका बोध स्वत: होता है; कारण, कि 'है' का होना किसी की स्वीकृति और उसका न होना किसी की अस्वीकृति पर निर्भर नही है। 'है' की स्वीकृति 'है' की आत्मीयता प्रदान कर 'है' की प्रियता से अभिन्न करती है और आस्थारहित होने पर स्वत 'नही' की निवृत्ति और 'है' की प्राप्ति होती है। परन्तु देखे हुए की आस्था भी तो दु ख के प्रभाव से ही नाश होती है। दु:ख का प्रभाव उनके लिये भी आवश्यक है जिन्होने दु खहारी को आस्थापूर्वक स्वीकार नही किया। इतना ही नही, दु:ख का प्रभाव ही स्वार्थ-भाव का अन्त

कर सेवा-परायण कर देता है - अर्थात् सबको सुखासक्ति से रहित, सेवा से अभिन्न हो, अनेकता मे एकता अनुभव कर, भिन्नता से रहित समता के साम्राज्य मे प्रवेश पाता है। भिन्नता की भूमि मे ही भोग-वासनाओं की उत्पत्ति होती है, जो मानव को भोग तथा रोग मे आबद्ध करती है और समता के साम्राज्य मे ही नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है जो मानव को वास्तविकता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से मानव-मात्र के लिये दुःख विकास का हेतु है परन्तु सुखासक्ति के साथ-साथ दुःख भोगते रहना कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु नवीन दुःख का जन्म ही होता रहता है। दुःख की महिमा वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने दुःख के प्रभाव से सुखासक्ति का सर्वांश मे अन्त कर दिया है। सन्देह की वेदना ने ही मानव को तत्त्व ज्ञान से अभिन्न किया है और पराधीनता की पीड़ा ने ही मानव को स्वाधीनता प्रदान की है। भोग-जनित व्यथा ने ही मानव को नित्य-योग प्रदान किया है। इस दृष्टि से दुःख की महिमा जितनी कही जाय कम है। जो मानव दुःखहारी से अभिन्न हुए, उन्होंने दुःख को प्रियतम का सन्देश जाना और जो 'है' से अभिन्न हुए, उन्होंने दुःख को राग-निवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वीकार किया और जिन्होंने सेवा होकर समता के साम्राज्य मे प्रवेश पाया, उन्होंने दुःख को विकास की भूमि स्वीकार किया। इतना ही नही, सभी ने दुःख को अपना कर ही अपने को दुःख का ऋणी बताया; कारण, कि जिस दुःख ने सभी को सब कुछ दिया उस दुःख को किसी ने कुछ नही दिया। अपितु उसकी निन्दा ही की। दुःख वही निन्दनीय है जो सुख की दासता की ओर गतिशील करता है, अर्थात् दुःख निन्दनीय नही है अपितु सुख की दासता निन्दनीय है। सुख की दासता को जीवित रखना और दुःख की निन्दा करना, यह दुःख के प्रति बड़ी ही कृतघ्नता है। जो सुख चाहते हुए भी चला गया उसकी दासता बनाये रखना और जिस दुःख से सर्वतोमुखी विकास हुआ उससे

भयभीत होना, उसके प्रभाव को न अपनाना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है।

विकसित मानव सुख देकर दु ख अपनाते है और जो पराधीनता, जडता एवं अभाव में ही जीवन बुद्धि स्वीकार करते है वे दूसरों को दु.ख देकर सुख का सम्पादन करते है। प्राकृतिक नियमानुसार सुख देकर जो दु ख लिया जाता है वह मानव को आनन्द से अभिन्न करता है और जो दु ख देकर सुख सम्पादन किया जाता है वह मानव को घोर दु ख में आबद्ध करता है। इस दृष्टि से सजग तथा सावधान मानव प्राप्त सुख को देकर हर्ष पूर्वक दु ख को अपनाते है और दु ख देकर सुख का सम्पादन नही करते है। सुख 'पर' की वस्तु है और दु ख अपनी, कारण, कि यदि सुख को अपनाया तो अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश किया और यदि दु ख को अपनाया तो मानव सर्वतोमुखी विकास का अधिकारी हुआ। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि समस्त विकारों की भूमि सुखासक्ति, और विकास की भूमि दु ख का प्रभाव है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो आता है वह अवश्य जाता है, पर आये हुए का सदुपयोग न करना मानव की भूल है। रहता वही है जिसमें आने-जाने की बात नही है। अतः जो आता जाता है उसका सदुपयोग करना है और जो रहता है उसमें प्रियता। आये हुए सुख का सदुपयोग दु खियो की सेवा में है और आये हुए दु.ख का सदुपयोग अहम् और मम के नाश में है। जो मानव सुख आने पर सेवा परायण नही होता वह विवश होकर सुखासक्ति में आबद्ध हो जाता है जो विनाश का मूल है और जो मानव दु ख आने पर अहम्, मम का अन्त नही करता वह बार-बार दु.ख भोगता है और भयभीत रहता है। इस दृष्टि से सुख-दु.ख में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना भूल है और सुख-दुःख का सदुपयोग विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते है जिन्होंने मानव-जीवन का यथेष्ट

अध्ययन किया है।

समस्त विश्व में केवल सुख तथा दुःख का ही दर्शन होता है परन्तु उनमें नित्यता नही है, अर्थात् दोनों ही स्वभाव से परिवर्तनशील है। सुख का प्रलोभन जब तक रहता है तब तक दुःख अवश्य आता है। सुख के भोगी को न चाहते हुए भी दुःख भोगना पडता है। इससे यह स्पष्ट विदित ही है कि पराधीनता तथा जडता-जनित सुखासक्ति के रहते हुए दु.ख का आना अनिवार्य है। जिसे दु ख का अन्त करना हो उसे पराधीनता-जनित सुख का अन्त करना होगा। सुख का अन्त दुःख के प्रभाव के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नही होता। प्राकृतिक नियमानुसार आया हुआ सुख चला ही जाता है पर उसका प्रलोभन सुख के भोगी में अकित हो जाता है। उस प्रलोभन का नाश तभी होता है जब दु ख का पूरा-पूरा प्रभाव हो जाय। दु.ख के प्रभाव को न अपनाना और उससे भयभीत रहना मानव की भारी भूल है। इस भूल का अन्त प्रत्येक मानव को करना अनिवार्य है। भूल को भूल जान लेने से ही भूल का नाश होता है। यह सभी को विदित है कि पराधीनता स्वभाव से ही मानव को प्रिय नही है। तो क्या पराधीनता बिना स्वीकार किये कामनापूर्ति-जनित सुख का भोग हो सकता है ? कदापि नही। अब विचार यह करना है कि पराधीनता तो प्रिय नहीं है तो फिर पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन क्या अर्थ रखता है ? पराधीनता-जनित वेदना असाध्य होने पर ही पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश होता है।

स्वाधीनता की माँग और पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन प्रत्येक मानव अपने मे पाता है, अपने आप न चाहने पर भी आया हुआ दुःख स्वाधीनता की प्राप्ति में साधन-रूप है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव दु ख के प्रभाव से प्रभावित होकर सुख के प्रलोभन से रहित होता है। प्रलोभन का अन्त होने पर भय स्वतः मिट जाता है। अत. सुख के प्रलोभन ने ही दु.ख के भय को

जन्म दिया है। सुख की आशा से पीड़ित मानव का दुख निर्जीव दुःख है और पराधीनता-जनित असह्य व्यथा सजीव दु·ख है। निर्जीव दुःख यद्यपि प्राणी मात्र में है, पर सजीव दु·ख केवल मानव-जीवन में ही होता है। दुःख की वास्तविकता का अनुभव मानव-जीवन में ही सम्भव है। इस दृष्टि से दु.ख मानव-जीवन का मुख्य अंग है पर मानव को दु·ख से भयभीत नही होना है और न सुख की आशा रख कर उसका आह्वान करना है अपितु दु ख की वास्तविकता को अपना कर सुख-दु·ख से अतीत के जीवन से अभिन्न होना है। यदि दु ख का प्रादुर्भाव न होता तो सुख की दासता-जनित पराधीनता, जडता एव अभाव का अभाव न होता। इस दृष्टि से दु·ख के प्रादुर्भाव में मानव-मात्र के प्रति किसी की कितनी करुणा निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते है जिन्हो ने मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का स्पष्ट निर्णय किया है। लक्ष्य के निर्णय तथा उसकी प्राप्ति में दुःख का बहुत बड़ा स्थान है। इस दृष्टि से दु.ख सर्वोत्कृष्टता की ओर अग्रसर करने में हेतु है। सर्वोत्कृष्ट जीवन का अधिकार मानव-मात्र को जन्मजात है। परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होना मानव का प्रमाद है जिसका अन्त दु.ख के प्रभाव में ही निहित है। इस दृष्टि से भूल के अन्त करने में, सुख-लोलुपता के नाश मे, स्वाधीनता की प्राप्ति मे, भोग की वास्तविकता के परिचय मे, निर्विकारता की अभिव्यक्ति मे दुःख का मुख्य स्थान है।

— ० —

शिक्षा और दीक्षा

शिक्षा मानव-जीवन में सौन्दर्य प्रदान करती है; कारण, कि शिक्षित व्यक्ति की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। यद्यपि सामर्थ्य सभी को स्वभाव से प्रिय है पर उसका दुरुपयोग मंगलकारी नही है। अतः शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान प्रचलित प्रथा में दीक्षा का अर्थ किसी मत, सम्प्रदाय आदि को अपना लेना है। पर वास्तव में दीक्षा का अर्थ मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के अनुभव का निर्णय करना है। शिक्षा का सदुपयोग दीक्षा से ही सम्भव है। सामर्थ्य में वह चेतना नही होती जिससे उसका मानव दुरुपयोग न करे। अत. सामर्थ्य के सदुपयोग के लिए प्रकाश दीक्षा से ही मिलता है। दीक्षित मानव की प्रत्येक चेष्टा लक्ष्य की प्राप्ति में ही निहित है। शिक्षा अर्थात् ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओं के द्वारा जो शक्ति प्राप्त हुई है उसका दुरुपयोग न हो, इसके लिए शिक्षित मानव का दीक्षित होना अनिवार्य है।

शिक्षा का सम्पादन सामूहिक शक्तियो के सहयोग से ही सम्भव है अर्थात् शिक्षित होने के लिए समाज के विभिन्न भागो का सहयोग आवश्यक होता है। कोई भी मानव दूसरों के सहयोग के विना शिक्षित नही हो सकता, इस दृष्टि से शिक्षा रूपी सामर्थ्य सामूहिक सम्पत्ति है व्यक्तिगत नहीं। सामूहिक सम्पत्ति का सदुपयोग सर्व-हितकारी सद्भावना से ही करना उचित है। पर यह तभी सम्भव

होगा जब मानव दीक्षित हो जाये। दीक्षित होने के लिए जीवन का अध्ययन अनिवार्य होगा। मानव-जीवन कामना और माँग का पुञ्ज है। कामना मानव को पराधीनता, जड़ता, एव अभाव की ओर गतिशील करती है और माँग स्वाधीनता, चिन्मयता एव पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। माँग की पूर्ति एव कामनाओं की निवृत्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। मानव-मात्र का लक्ष्य एक है। इस कारण दीक्षा भी एक है। दीक्षा के दो मुख्य अग है—दायित्व और माँग। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति स्वतः होती है। दायित्व पूरा करने का अविचल निर्णय तथा माँग की पूर्ति में अविचल आस्था रखना ही दीक्षा है। यह दीक्षा प्रत्येक वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब, इज़्म आदि के मानव के लिए समान रूप से आवश्यक है। इस दीक्षा के बिना कोई भी मानव मानव नही हो सकता और मानव बिना हुए जीवन अपने लिए, जगत् के लिए और उसके लिए जो सर्व का आधार तथा प्रकाशक है उपयोगी नही हो सकता।

शिक्षा से प्राप्त सौन्दर्य से मानव दायित्व को पूरा करता है। पर विचार यह करना है कि दायित्व क्या है। दायित्व वह नहीं हो सकता जिसे पूरा करने में मानव असमर्थता अनुभव करे और वह भी दायित्व नही है कि जिसके पूरा करने में माँग की पूर्ति न हो। जिस पर जो दायित्व है, वह उससे अपरिचित नहीं है, उसकी विस्मृति भले ही हो गई हो। दायित्व का ज्ञान प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र में विद्यमान है। उसकी विस्मृति किसी न किसी असावधानी से हो जाती है पर माँग की पूर्ति में अविचल आस्था होने से माँग की उत्कट लालसा जाग्रत होती है जो दायित्व की स्मृति जगाने में और भूल के मिटाने में समर्थ है। इस दृष्टि से अपने पर क्या दायित्व है, इस पर मानव को स्वयं विचार करना है। जाने हुए दायित्व का समर्थन मात्र महत् पुरुषों से ही होता है और उसी

का नाम दीक्षा है। शिक्षा सामर्थ्य है और दीक्षा प्रकाश। सामर्थ्य का उपयोग अंधकार में करना अपने विनाश का आह्वान करना है। शिक्षा का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होता है और दीक्षा का प्रभाव अपने पर होता है अर्थात् कर्त्ता पर होता है, करण पर नही। करण कर्त्ता के अधीन कार्य करते है। अतः शिक्षा का उपयोग दीक्षा के अधीन होना चाहिए। किसी भी मानव को यह अभीष्ट नही है कि सबल उसका विनाश करे, अतः बल का दुरुपयोग न करने का व्रत, कर्त्तव्य-पथ की दीक्षा है। जिस मानव ने यह अविचल निर्णय कर लिया कि किसी भी परिस्थिति में बल का दुरुपयोग नही करना है उस में स्वतः कर्त्तव्य की स्मृति उदित होगी, यह दीक्षा की महिमा है। कर्त्तव्य की स्मृति और उसके पालन की सामर्थ्य स्वतः कर्त्ता में अभिव्यक्त होती है। यह प्राकृतिक विधान है। अतएव कर्त्तव्य पालन मे असमर्थता तथा परतत्रता नही है, यह निर्विवाद सिद्ध है। जो नहीं कर सकते, क्या वह भी किसी का कर्त्तव्य हो सकता है ? अथवा जो नही करना चाहिए क्या वह भी किसी का कर्त्तव्य हो सकता है ? कदापि नही। सामर्थ्य तथा विवेक विरोधी कार्य न करने का निर्णय कर्त्तव्य-परायणता के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पथ पर चलने के लिए दीक्षा अनिवार्य है। यह दीक्षा कोई मानव निज विवेक के प्रकाश से अथवा किसी कर्त्तव्य-निष्ठ मानव से अपनाये, यह उसकी अपनी स्वाधीनता है, पर दीक्षित न होना भारी भूल है। यद्यपि शिक्षा वड़े ही महत्व की वस्तु है, पर दीक्षित विना हुए शिक्षा के द्वारा घोर अनर्थ भी हो जाते है। अशिक्षित मानव से उतनी क्षति हो ही नही सकती जितनी दीक्षा रहित शिक्षित से होती है। शिक्षित मानव का समाज में वहुत वड़ा स्थान है; कारण, कि उसके सहयोग की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षित का दीक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। कर्त्तव्य-परायणता पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओ के हल करने में समर्थ है। कर्त्तव्य-

निष्ठ मानव के द्वारा ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और फिर वह स्वतः योग विज्ञान में प्रवेश पाता है जो विकास का मूल है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है और योग 'स्व' के लिए उपयोगी है। कर्त्तव्य की पूर्णता स्वतः मानव को योगवित् कर देती है जो अपने लिए उपयोगी है अर्थात् योगवित् होने पर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्य पालन में प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता है जो सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

यह सभी को विदित है कि कर्त्तव्य का आरम्भ तथा अन्त होता है। जिसका आरम्भ और अन्त है वह नित्य नही है किन्तु कर्त्तव्य का परिणाम कर्त्ता को रागरहित करने में उपयोगी है। रागरहित भूमि में जब योग-रूपी वृक्ष उगता है तब मानव अपने उस दायित्व को पूरा करने में समर्थ होता है जो उसे पराधीनता से रहित करने में समथ है अर्थात् रागरहित होने पर ही वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से असगता प्राप्त होती है जो विचार-पथ की दीक्षा है। यह दीक्षा भी मानव जाने हुए असत् के त्याग से प्राप्त कर सकता है जो सभी विचारशील महत् पुरुषों से समर्थित भी है। कर्त्तव्य-परायणता सुन्दर समाज के निर्माण में और असगता स्वाधीनता की प्राप्ति में समर्थ है, पर जिसकी अहैतुकी कृपा से कर्त्तव्य पालन के लिए मूल सामग्री तथा कर्त्तव्य की स्मृति के लिए विवेक रूपी प्रकाश मिला उसमे अविचल आस्था करना विश्वास-पथ की दीक्षा है। आस्था स्वतः श्रद्धा तथा विश्वास के रूप में परिणत होती है जिससे मानव उसमें आत्मीयता स्वीकार करता है जिसे जानता नही है। आत्मीयता अखण्ड स्मृति प्रदान करती है जो प्राप्ति तथा अगाधप्रियता की जननी है। विश्वास-पथ की दीक्षा विश्वासी को विश्वासपात्र से अभिन्न कर देती है। कर्त्तव्य-परायणता से सुन्दर समाज का निर्माण और असंगता से स्वाधीनता की प्राप्ति और आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति से प्रेम की जाग्रति होती है। कर्त्तव्य-परायणता परम-

शान्ति से, असंगता स्वाधीनता से एवं शरणागति अगाधप्रियता से मानव को अभिन्न करती है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। किस मानव को आरम्भ में कैसी दीक्षा लेनी है, यह उसकी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य पर निर्भर है, यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार मानव-मात्र की माँग एक है और उसी माँग को शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के स्वरूप में वरण किया है। शान्ति सामर्थ्य की, स्वाधीनता चिन्मयता की और प्रेम अनन्त रस का स्रोत है। सामर्थ्य, चिन्मयता एवं रस से परिपूर्ण जीवन की माँग मानव-मात्र की अपनी माँग है। दायित्व पूरा करने पर माँग स्वतः पूरी होती है, यह विधान है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा के बिना माँग, अर्थात् लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए दायित्व क्या है इसका विकल्प रहित निर्णय सम्भव नहीं है जिसके बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। दीक्षा का बाह्य रूप भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत हो, किन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप तो कर्त्तव्य-परायणता, असंगता एवं शरणागति में ही निहित है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्य की पूर्णता में असंगता और असंगता की परावधि में शरणागति स्वतः आ जाती है। कर्त्तव्य-परायणता के बिना स्वार्थ-भाव का, असंगता के बिना जड़ता का और शरणागति के बिना सीमित अहम्-भाव का सर्वांश में नाश नहीं होता। स्वार्थ-भाव ने ही मानव को सेवा से और जड़ता ने ही मानव को चिन्मय जीवन से एवं सीमित अहम्-भाव ने ही प्रेम से विमुख किया है जो विनाश का मूल है। स्वार्थभाव, जड़ता एवं सीमित अहम्-भाव का नाश, दीक्षा मे ही निहित है।

व्यक्तित्व की सुन्दरता मे शिक्षित होने के लिए मानव को शिक्षकों की अपेक्षा होती है पर व्यक्तित्व के मोह के नाश में दीक्षित होने के लिए मानव को अपनी ओर देखना होता है। अपनी ओर देखने पर ही अपने दायित्व और माँग का बोध होता है। दीक्षा की पाठशाला

एकान्त और पाठ मौन है। शिक्षा अनन्त से प्राप्त सौन्दर्य है और दीक्षा अनन्त का प्रकाश है। सौन्दर्य का सद्व्यय प्रकाश से ही सम्भव है। शिक्षा मानव को उपयोगी बनाती है और दीक्षा सभी के ऋण से मुक्त करती है—ऋण से मुक्त हुए बिना शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नही होता, जो वास्तविक जीवन है।

—:o:—

९

विश्व-शान्ति

यह सभी को विदित है कि बल का दुरुपयोग ही एक-मात्र अशान्ति का मूल है। अब विचार यह करना है कि मानव-समाज बल का दुरुपयोग क्यों करता है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होगा कि जब तक परस्पर प्रीति-भेद नही होता तब तक बल के दुरुपयोग का संकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि एकमात्र प्रीति-भेद ही बल के दुरुपयोग में हेतु है जो अशांति का मूल है। प्रीति आत्मीयता से जाग्रत होती है। किसी अन्य प्रकार से प्रीति का प्रादुर्भाव सम्भव नही है। जब तक मानव सर्वात्मभाव स्वीकार नही करता, तब तक प्रीति की एकता सम्भव नही है। यद्यपि समस्त विश्व का आश्रय तथा प्रकाशक एक है, परन्तु इस मौलिकता को भूल जाने से वाह्य अनेकता के कारण मानव भिन्नता स्वीकार कर लेता है। कारण की एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता होती है, यह रचना की शोभा है। प्रत्येक वृक्ष का बीज एक होने पर भी वृक्ष में अनेकता का दर्शन होता है। पर बीज की एकता और वृक्ष की अनेकता को मानव बुद्धि-दृष्टि से देख सकता है। इन्द्रिय-दृष्टि से बीज में वृक्ष का दर्शन नही होता, परन्तु बुद्धि-दृष्टि से तो बीज के स्थूल भाग की कौन कहे, अव्यक्त भाग में भी समस्त वृक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार जब मानव इन्द्रिय-दृष्टि से असग होकर बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है तब व्यक्तिगत भिन्नता होने पर भी समस्त

विश्व से एकता स्वीकार करता है। वाह्य भिन्नता के आधार पर कर्म में भिन्नता अनिवार्य है पर आन्तरिक एकता होने के कारण प्रीति की एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। पर मानव जब इस वास्तविकता को भूल जाता है तब कर्म की भिन्नता के साथ साथ प्रीति की भिन्नता मान बैठता है जो सघर्ष का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म की भिन्नता भी पारस्परिक एकता को ही सिद्ध करती है। यदि भिन्नता न हो तो एक दूसरे के प्रति पारस्परिक उपयोगिता ही सिद्ध न होती। नेत्र से जब देखते है तब पैर से चलते हैं। दोनों की क्रिया में भिन्नता है पर वह भिन्नता नेत्र और पैर की एकता में हेतु है। उसी प्रकार दो व्यक्तियो में, दो वर्गो में, दो देशो में एक दूसरे की उपयोगिता के लिये ही भिन्नता है। उपयोगिता होने के कारण भिन्नता में भी एकता ही सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब दूसरो की उपयोगिता में अभिरुचि नहीं होती तब भिन्नता भेद को जन्म देती है जो संघर्ष का मूल है। व्यक्तिगत रूप से जिसे जो प्राप्त है उसकी उपयोगिता दूसरों के प्रति है और दूसरो को जो प्राप्त है उसकी उपयोगिता अपने प्रति है। पारस्परिक आदान-प्रदान भिन्नता से ही सम्भव है। पर इस रहस्य को भूल जाने से भिन्नता एकता में परिणत नही होती और उसके न होने से प्रीति-भेद उत्पन्न होता है जो सघर्ष का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश यदि दूसरो की उपयोगिता में प्राप्त वस्तु, मामर्थ्य एव योग्यता व्यय करे तो एक-दूसरे के पूरक हो सकते है। और फिर परस्पर स्नेह की एकता बडी ही सुगमता पूर्वक सुरक्षित रह सकती है जो विकास का मूल है। यह सभी को विदित है कि जिस किसी को जो कुछ मिला है वह उसका व्यक्तिगत नही है अर्थात् समष्टि शक्तियों से निर्मित है। इसी कारण मिला हुआ अपने लिये उपयोगी नही होता, अपितु दूसरों के लिये होता है। जिस प्रकार चिकित्सक

रोगियो के लिये और रोगियों के पास जो कुछ है वह चिकित्सक के लिये उपयोगी होता है उसी प्रकार परस्पर जितने सम्बन्ध है उन सभी मे यह स्पष्ट ही है कि परस्पर आदान-प्रदान में ही एक दूसरे की पूर्ति निहित है। इस वैधानिक सत्य का अनुसरण करने पर ही समस्त सघर्षो का अन्त हो सकता है। भिन्नता के आधार पर जो सघर्ष उत्पन्न होते है उनके मूल में अकर्त्तव्य ही होता है। भिन्नता वास्तव मे सघर्ष का कारण नही है और एकता मे तो सघर्ष है ही नही। बाह्य भिन्नता और आन्तरिक एकता के अतिरिक्त समस्त विश्व कुछ नही है। विश्व एकता और भिन्नता का बडा ही अनुपम चित्र है, पर इस कला को कोई विरले ही मनीषी देख पाते है। विज्ञानवेत्ता का विज्ञान, कलाकार की कला, साहित्यकारो का साहित्य दूसरो की पूर्ति में ही जीवित है, पर जब इस वास्तविकता को भूल जाते है और अपने अपने व्यक्तिगत सुख-लोलुपता की पूर्ति के लिये विज्ञान, कला, साहित्य आदि का उपयोग करने की भावना उत्पन्न कर लेते है तब भिन्नता मे एकता का दर्शन नहीं कर पाते। यद्यपि व्यक्तिगत सुख का सम्पादन किसी अन्य के द्वारा ही सम्भव होता है परन्तु सुखासक्ति के कारण हम दूसरों की हित कामना में रत नही रहते अपितु अपने मान और भोग पर ही दृष्टि रखते है। उसी का परिणाम है कि विश्व में अशान्ति का जन्म होता है। विश्व-शान्ति के लिये मानव समाज को दूसरों की हित कामना को अपनाना होगा। प्राकृतिक नियमानुसार पर-हित में ही अपना हित निहित है। इस मौलिकता को भूल जाने के कारण पर-हित में रति नही रहती, जिसके न रहने से ही भिन्नता मे एकता का दर्शन नही होता। इतना ही नहीं, व्यक्तिगत सुखासक्ति ने ही आन्तरिक एकता का साक्षात्कार नहीं होने दिया; कारण, कि सुखासक्ति मानव को मिले हुए के अभिमान में आबद्ध करती है और फिर मानव प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य

आदि से तद्रूप हो जाता है जिसके होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। अत. सुखासक्ति मानव को आन्तरिक एकता का भी अनुभव नही होने देती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन ही अशान्ति का मूल है।

पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर ही सुखासक्ति का सर्वांश में नाश होता है और फिर अपने आप पारस्परिक एकता सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से पर-पीडा को अपना लेना ही भिन्नता में एकता का बोध कराने में समर्थ है। दूसरो के सुख को सहन न करने पर भी पारस्परिक सघर्ष उत्पन्न होता है जो एकता में भिन्नता को पोषित करता है। दु खियो को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने पर ही भिन्नता मे एकता का दर्शन होता है। करुणा व्यक्तिगत सुखासक्ति के नाश में समर्थ है और प्रसन्नता निष्कामता को सुरक्षित रखती है, कारण, कि खिन्नता की भूमि मे ही काम की उत्पत्ति होती है। सुखासक्ति का नाश तथा निष्कामता सुरक्षित रहने पर स्वाधीनता एव शान्ति की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है और शान्ति से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। चिन्मय जीवन से अभिन्न होने पर मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगता है जो पारस्परिक एकता में हेतु है। असमर्थता के कारण ही व्यक्ति को जो करना चाहिये उसे वह नही कर पाता और जो नही करना चाहिये उसे कर बैठता है। इस कारण असमर्थता का अन्त करना अनिवार्य है। जो कुछ नही कर सकता वह असमर्थ नही है। कुछ न करने की स्थिति तो सब कुछ करने पर ही आती है। जो नही करना चाहिये उसे कर बैठना ही असमर्थता है॥ शान्ति के सुरक्षित रहने पर वह सामर्थ्य आती है जिससे अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नही होती और कर्त्तव्य का अभिमान नही रहता अर्थात दोषों की उत्पत्ति नही होती और गुणों का अभिमान नहीं

रहता, जिससे परिच्छिन्नता मिट जाती है। परिच्छिन्नता के मिटते ही अनेकता मे एकता का स्वतः बोध होता है। इस दृष्टि से गुणो के अभिमान तथा दोषों की उत्पत्ति में ही समस्त-संघर्ष पोषित होते है, जिनका मूल सुखासक्ति तथा खिन्नता है। सुखासक्ति पराधीनता में और खिन्नता क्षोभ में आबद्ध करती है। पराधीन मानव ही दूसरो से सुख की आशा करते हैं और क्षोभित मानव अपने दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं जो वास्तव में प्रमाद है। दूसरो के सुख में सहयोग देने से ही पराधीनता नाश होती है और अपने दुःख का कारण किसी और को न मानने से ही क्षोभ नाश होता है। पराधीनता तथा क्षोभ का नाश होने पर ही शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीन होने पर स्वतः समता प्राप्त होती है। समता के साम्राज्य में अशान्ति नही है। शान्ति की भूमि में ही कर्त्तव्य पालन की सामर्थ्य तथा निस्सन्देहता के लिये विचार का उदय होता है। कर्त्तव्य-परायणता अनेकता में एकता का स्पष्ट बोध कराती है और सन्देह रहित होने पर ही निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्राप्त होती है। निश्चिन्तता व्यर्थ चिन्तन से रहित कर वर्तमान को सरस बनाती है। वर्तमान की सरसता निर्विकारता को सुरक्षित रखती है जो सर्वदा सभी के लिए हितकर है; कारण, कि विकारो की उत्पत्ति से ही अहित-कर चेष्टाएँ होती है जो सर्वथा त्याज्य है। निर्भयता मानव को ऐश्वर्य प्रदान करती है अर्थात् उस पर कोई विजयी नही हो सकता पर इस का अर्थ यह नही है कि वह दूसरों को पराजित करता है। निर्भयता आ जाने पर मानव सभी को अभय दान देता है। भयभीत मानव ही दूसरों को भय देता है। इतना ही नही भयभीत होने पर ही दूसरों के विनाश की भावना उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से निर्भयता में ही अहिंसा निहित है। हिंसा का अन्त होने पर स्वतः शान्ति की स्थापना होती है। इस दृष्टि से मानव-समाज जब तक निश्चिन्त तथा

निर्भय नही हो जाता तब तक शान्ति की स्थापना किसी भी प्रकार सम्भव नही है। भयभीत होने से ही मानव ने विनाशकारी वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं पर बल का दुरुपयोग करने पर कभी भी बल सुरक्षित नही रहता। इस कारण निर्भयता के बिना कभी भी बल का सदुपयोग सम्भव नही है। अतः निर्भय होकर अभयदान देने पर ही मानव विश्व-शान्ति को सुरक्षित रख सकता है।

यह सभी को विदित है कि निर्बल सबल से भयभीत होते हैं। अतएव सबल निर्बलो को अभय दान प्रदान करे। ऐसा करने से सबल बल के अभिमान से रहित होगा और सबल तथा निर्बल का भेद मिट जायगा जिसके मिटते ही दो व्यक्तियो में, वर्गो में, देशों मे, मजहबो, मत-सम्प्रदायो तथा दलो में स्वत एकता होगी जो शान्ति मे हेतु है। एकता का बोध न रहने पर ही सघर्ष उत्पन्न होते हैं जो विनाश के मूल हैं। यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि जब वह सृष्टि की ओर देखता है तो उसे सारा विश्व एक इकाई के रूप में ही प्रतीत होता है। आज तक किसी दार्शनिक ने यह नही कहा कि समस्त सृष्टि एक नही है। अनेकता उसी एक की शोभा है, और कुछ नही। अनेक होने पर भी सभी का आधार और प्रकाशक एक ही है। फिर भी मानव असावधानी के कारण एक इकाई के अन्तर्गत अनेकों भेद मान लेता है। स्वरूप से सृष्टि में भेद नही है। केवल वाह्य भिन्नता के आधार पर काल्पनिक भेद है। वास्तविकता की खोज करने पर काल्पनिक भेद मिट जाता है जिस के मिटते ही वास्तविकता का अनुभव होता है और फिर स्वतः पारस्परिक एकता हो जाती है जिसके होते ही प्रीति का उदय होता है जो अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति के नाश में समर्थ है। प्रीति के अभाव में ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है। साधन और जीवन की भिन्नता के मूल में भी प्रीति का अभाव ही है। समस्त आसक्तियाँ उसी समय तक ही जीवित रहती हैं जिस समय

तक प्रीति का प्रादुर्भाव नही होता।

ऐसी कोई सकीर्णता नही है जिसके मूल में किसी न किसी प्रकार की आसक्ति न हो, कारण, कि आसक्ति मानव को असीम से विमुख कर सीमा में, चेतना से विमुख कर जड़ता में और स्वाधीनता से विमुख कर पराधीनता में आबद्ध करती है। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग कामना-पूर्ति में करने से ही आसक्ति उत्पन्न होती है। कामनाओ का उद्‌गम एकमात्र निज विवेक का अनादर ही है। जब मानव जाने हुए से प्रभावित नहीं होता तब किये हुए मे आबद्ध होता है जिसके होते ही देहाभिमान पोषित होता है और फिर भिन्न भिन्न प्रकार की परिच्छिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती है जो भेद को पोषित करती हैं। परिच्छिन्नताओ में आबद्ध मानव ही अशान्ति को जन्म देता है। व्यक्तिगत भिन्नता यद्यपि सृष्टि की शोभा है परन्तु उसके आधार पर मानव अनेकों भेद स्वीकार कर लेता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि प्रीति की एकता सुरक्षित नही रहती और फिर परस्पर वह कर बठते हैं जो नही करना चाहिये। न करने वाली बातों को करने पर ही मानव-समाज कर्त्तव्य से विमुख होता है। यदि व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में परिवार, समाज तथा विश्व मे शान्ति स्थापित करना है तो प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मज़हब, वाद के लोगों को सर्वांश में दृढ़तापूर्वक उन सभी कृतियों का त्याग करना होगा जो नहीं करना चाहिए। जब मानव किसी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर वह कर बैठता है जिसे वह स्वय जानता है कि नही करना चाहिये तब न तो कर्त्तव्य की स्मृति ही रहती है और न मानव कर्त्तव्य-निष्ठ ही हो पाता है। प्राकृतिक नियमानुसार जो अपने कर्त्तव्य को भूलता है उसे ही दूसरो के कर्त्तव्य की चर्चा करने का रोग उत्पन्न हो जाता है जो पारस्परिक एकता सुरक्षित नही रहने देता। अशान्ति के मूल मे यही प्रतीत होता है कि

दूसरो के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखने से अपने अपने कर्त्तव्य की विस्मृति होती है और परिणाम मे अशान्ति तथा सघर्ष ही पोषित होता है। यद्यपि दूसरों के कर्त्तव्य का ज्ञान भले ही ठीक हो परन्तु जब तक कर्त्ता स्वय अपने कर्त्तव्य से परिचित नही होता तब तक वह उसका विधिवत पालन नही कर पाता। कर्त्तव्य-परायणता दूसरों के हृदय में कर्त्तव्य की प्रेरणा देती है और फिर सभी स्वत. कर्त्तव्य पालन मे तत्पर होते है। अपने अपने कर्त्तव्य का पालन करने पर परस्पर में आन्तरिक एकता स्वत हो जाती है। वाह्य भिन्नता आन्तरिक एकता को भंग नही कर पाती अपितु एकता से जाग्रत प्रियता वाह्य भिन्नता में भी एकता का ही पाठ पढ़ाती है जो विकास का मूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने में अपनी प्रियता स्वभाव सिद्ध है परन्तु अपने से अपरिचित रहने पर वह प्रियता आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसी दशा में मानव अपनी ही मान्यता, धारणा, चिन्तन, रहन-सहन, आदि को दूसरों में देखना चाहता है। जब उसे नही देख पाता तब अपने मे और दूसरों में भेद मान लेता है और फिर विनाशकारी प्रयोगों द्वारा बल-पूर्वक दूसरो को अपने अधीन करना चाहता है और यह भूल जाता है कि मानव को स्वाधीनता स्वभाव से प्रिय है। किसी की स्वाधीनता का अपहरण करना ही अपने को पराधीन करने की तैयारी है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार की हैं। प्रीति की भिन्नता के समान और कोई अकर्त्तव्य की उत्पत्ति का और कोई कारण नही है। समस्त दोषों की उत्पत्ति तभी होती है जब परस्पर प्रीति की एकता नही रहती। दोषो का समूल नाश तभी होता है जब सभी के प्रति प्रियता हो। प्रियता स्वतः बुराई को उत्पन्न ही नही होने देती तो फिर किसी बुराई के करने का प्रश्न ही नहीं रहता। प्रियता पूर्वक सुधार में भी सुरक्षा का भाव सतत् रहता है। विनाश की भावना उत्पन्न ही नही होती है। इस दृष्टि से प्रियता के साम्राज्य

में ही शान्ति तथा स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। अविचल शान्ति अगाधप्रियता में ही निहित है, और अगाधप्रियता सर्वात्मभाव से ही जाग्रत होती है। इस कारण समस्त विश्व एक जीवन है इस वास्तविकता को अपना लेने पर ही विश्व-शान्ति सम्भव है।

विश्व-शान्ति सुरक्षित रखने के लिए मानव समाज ने दो मान्यताएँ स्वीकार की—राष्ट्रीयता तथा मजहब अर्थात् न्याय और प्रेम के द्वारा ही शान्ति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। परन्तु जब तक मानव अपने प्रति न्याय और दूसरो के प्रति प्रेम को नही अपनायेगा तब तक शान्ति का सुरक्षित रखना किसी भी प्रकार सम्भव न होगा। किसी भी परिवार में अशान्ति कब होती है ? जब परिवार के सदस्य अपने अपने सुख के लिए दूसरो के प्रति न्याय करते है और यह भूल जाते है कि न्याय तो अपने प्रति करना था। दूसरों के साथ तो प्रेम ही किया जा सकता है। प्राकृतिक नियमानुसार न्याय से निर्दोषता और प्रेम से अभिन्नता सिद्ध होती है। जब मानव अपने प्रति न्याय नही करता तब उसमें किसी न किसी अश मे दोष उत्पन्न हो ही जाते है और जब दूसरो से प्रेम नही करता तब किसी न किसी अश में भेद उत्पन्न हो ही जाता है। दोषों तथा भेद की उत्पत्ति होने पर पारिवारिक शान्ति भग हो जाती है। समस्त विश्व भी एक विराट परिवार है और कुछ नही। यदि दूसरों के प्रति प्रेम तथा अपने प्रति न्याय नही किया तो विश्व-शान्ति सम्भव नही है। प्रेम में त्याग और न्याय मे तप स्वत. सिद्ध है। त्याग चिर-शान्ति, स्वाधीनता एवं एकता से अभिन्न करता है और तप असमर्थता का अन्त करता है अर्थात् तप से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। अतः अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रेम वही कर सकता है जिसे तप और त्याग अभीष्ट हो। अब विचार यह करना है कि तप का वास्तविक स्वरूप क्या है ? निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए बडी से बडी कठिनाइयों को सहर्ष सहन करना

तप है और अहम् और मम का सर्वांश में नाश करना त्याग है। निर्दोष जीवन की माँग सभी को सदैव रहती है और प्रेम स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, देश, राष्ट्र तथा समाज को अपने अपने प्रति न्याय और अन्य के प्रति प्रेम का बर्ताव करना अनिवार्य है। यही महा मन्त्र है व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रगत तथा विश्वगत शान्ति को सुरक्षित रखने का, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा जब अपने में अपनी जानी हुई भूल न रहे और की हुई भूल को पुनः न दुहराया जाय अपितु अपने प्रति होने वाली बुराई का उत्तर बुराई से न देकर यथाशक्ति भलाई से दिया जाय। तब अनेक भेद होने पर भी एकता सुरक्षित रहेगी जो शान्ति की जननी है।

—:०:—

१०

उपसंहार

मानव-दर्शन मानव-मात्र का अपना दर्शन है। प्राकृतिक नियमानुसार अपने में अपनी सबसे अधिक प्रियता होती है। इस कारण जब तक मानव अपने जाने हुए का स्वयं आदर नही करता तब तक वह सन्देह रहित नही होता। निस्सन्देहता के बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नही है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट ही विदित होता है कि मानव-जीवन की सार्थकता के लिए सन्देह रहित होना अनिवार्य है। देखे हुए में तथा सुने हुए में विकल्प भी हो सकता है परन्तु जाने हुए में विकल्प नही होता। अतएव अपने जाने हुए के प्रभाव मे ही निस्सन्देहता निहित है।

अब विचार यह करना है कि अपना देखा हुआ क्या है? सुना हुआ क्या है? और जाना हुआ क्या है? देखा हुआ वही है जो इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि का विषय है और सुना हुआ वही है जो इन्द्रिय आदि का विषय नही है और जाना हुआ देखे हुए तथा सुने हुए से विलक्षण है; कारण, कि जानना किसी की अपेक्षा नही रखता अपितु ज्ञाता स्वयं ही जानता है। द्रष्टा में और ज्ञाता में एक बड़ा भेद यह है कि द्रष्टा दृष्टि के आश्रित दृश्य का अनुभव करता है परन्तु ज्ञाता को किसी दृष्टि की अपेक्षा नही होती, वह स्वयं ही जानता है। परन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब द्रष्टा देखने के राग से रहित जिज्ञासु होकर ज्ञाता से अभिन्न होता है। जो देखने में आसक्त है उसी में दृश्य के प्रति सदेह उत्पन्न होता है; कारण,

कि दृश्य स्वभाव से ही सतत् परिवर्तनशील है किन्तु मानव की माँग नित्य-जीवन की है। दृश्य के आश्रय में जब माँग की पूर्ति नही होती तब बेचारा मानव विवश होकर भोक्ता-भाव को त्याग जिज्ञासु होता है। जिज्ञासा भोग के राग को खाकर स्वय पूरी होती है और फिर द्रष्टा ज्ञाता से अभिन्न हो जाता है। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि देखा हुआ बोध नही है। देखना एक प्रकार का भोग है; कारण, कि देखने से दृश्य का प्रभाव अंकित होता है जिसके होने से मानव देहाभिमान मे आबद्ध होता है, जो पराधीनता का मूल है। पराधीनता किसी को भी स्वभाव से प्रिय नही है। इस दृष्टि से देहाभिमान का अंत करना अनिवार्य है जो एकमात्र जाने हुए के प्रभाव से ही सम्भव है। इस वास्तविक माँग की पूर्ति के लिए मानव-मात्र को अपने दर्शन का अनुसरण करना अनिवार्य है।

जो देखा हुआ है वह सुना हुआ नही है। इसका अर्थ यह नही है कि सुना हुआ केवल श्रोत्र का विषय है। सर्वेन्द्रियाँ अपने अपने विषय की द्रष्टा हैं। अत सुने हुए के अर्थ में केवल उसे लेना है जो इन्द्रिय, बुद्धि आदि से अतीत है। इस दृष्टि से देखे हुए और सुने हुए में भेद है। देखे हुए के प्रति जिज्ञासा होती है, जिसे कभी नही देखा उसके प्रति आस्था हो सकती है जिज्ञासा नही। जिसके प्रति जिज्ञासा होती है उस पर विचार किया जा सकता है और जिसे केवल सुना है उससे आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक आत्मीयता स्वीकार की जाती है जो प्रियता की जननी है। देखे हुए पर सदेह होने से जब तीव्र जिज्ञासा जाग्रत होती है तब स्वतः विचार का उदय होता है जिसके होते ही अविचार का नाश तथा वास्तविकता से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से जिज्ञासा तथा आस्था दोनों ही मानव-जीवन के स्वतत्र पथ हैं। वास्तविकता से अभिन्न होने पर उसमें आस्था और प्रियता से दूरी तथा भेद मिट जाने पर वास्तविकता का बोध स्वतः होता है। जिज्ञासा और आस्था दोनो स्वतत्र पथ होने पर भी

परिणाम में समान अर्थ रखते है। अत. मानव अपनी रुचि, योग्यता एव सामर्थ्य के अनुसार आस्था अथवा जिज्ञासा किसी भी पथ को अपनाये, लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होती है। जिज्ञासा तथा आस्था अपना लेने पर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग दोनों ही पथों मे समान अर्थ रखता है अर्थात् प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग विश्वासी तथा जिज्ञासु दोनो ही के लिए अनिवार्य है।

प्रत्येक मानव को विवेक रूपी प्रकाश तथा इन्द्रिय एव बुद्धि-दृष्टि प्राप्त है। दोनो ही दृष्टियाँ एक ही प्रकाश से कार्य करती है परन्तु दोनो का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। उपयोगिता की दृष्टि से दोनो ही दृष्टियाँ आवश्यक है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव राग की उत्पत्ति में और बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव राग रहित करने मे हेतु है। यह क्रम कब से आरम्भ हुआ है, ऐतिहासिक दृष्टि से इसका निर्णय सम्भव नही है। किन्तु इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग और बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव विकास का मूल है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मानव को पराधीनता में आबद्ध रखता है जो उसे अभीष्ट नही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय-दृष्टि मे कोई दोष है। इन्द्रियाँ तो बेचारी करण है कर्त्ता नही। इन्द्रिय-दृष्टि कर्त्तव्य कर्म के लिए उपयोगी है। मगलमय विधान से मानव को बुद्धि-दृष्टि केवल इसी लिये मिली है कि वह इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग करते हुए भी उसके प्रभाव से रहित हो जाय। मिले हुए का दुरुपयोग भारी भूल है और सदुपयोग सजगता है। भूल मे ह्रास और सजगता में विकास निहित है।

दृश्य एक, द्रष्टा एक और दृष्टि दो है। इस कारण द्रष्टा को एक ही दृश्य के सम्बन्ध में दोनो दृष्टियों का उपयोग करना है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति मे साधनरूप हो सकता है परन्तु कब ? जब प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रवृत्ति की वास्तविकता जानने के लिए की जाय। प्रवृत्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रवृत्ति की वास्तविकता से अपरिचित रहना है जो अवनति का मूल है। नवीन

राग की उत्पत्ति न हो, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये बुद्धि-दृष्टि मिली है। इन्द्रिय-दृष्टि के द्वारा आसक्ति का पोषण करना और बुद्धि-दृष्टि से विवादी होना दृष्टियों का दुरुपयोग है जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जब बुद्धि-दृष्टि का सदुपयोग करने पर मानव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित होता है तब प्रत्येक कार्य के अत मे इन्द्रिय-दृष्टि स्वत: मन में विलीन होती है और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है, जिसके होते ही बुद्धि सम होती है जो विकास का मूल है। पर बुद्धि के सम होने मात्र में ही मानव की माँग पूरी नही हो जाती; कारण, कि निर्विकल्प स्थिति निर्विकल्प बोध नही है। निर्विकल्प बोध के बिना निसन्देहता सुरक्षित नही रहती। इस कारण बुद्धि के सम होने मात्र में ही सन्तुष्ट होना भूल ही है पर इसका अर्थ यह नही है कि बुद्धि के सम होने का उपाय न किया जाय। बुद्धि के सदुपयोग से ही बुद्धि सम होती है। मिले हुए के सदुपयोग का दायित्व मानव-मात्र पर है।

असफलता का एक-मात्र कारण मिले हुए का दुरुपयोग, जाने हुए का अनादर तथा सुने हुए मे अविचल आस्था न करना है। मिले हुए का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति तभी मानव मे होती है जब वह जाने हुए का आदर तथा सुने हुए मे आस्था नही करता। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन में असफलता केवल मानव ही की भूल से है। अब यदि कोई यह कहे कि मानव को मिले हुए के दुरुपयोग, जाने हुए के अनादर तथा सुने हुए में अनास्था करने की स्वाधीनता क्यो मिली है? यह कैसी विडम्बना है? जिस विधान से मानव को स्वाधीनता मिली है उसका मानव को आदर करना चाहिए अथवा अनादर? गभीरता से विचार करे, यदि स्वाधीनता न दी जाती तो क्या मानव की कोई महिमा होती? मानव की महिमा उसे अभीष्ट है जिसने उसका निर्माण किया है क्या अपने परम-सुहृद के इस विधान का अनादर करना चाहिए? क्या मानव

पशु-पक्षियो की भाँति प्राकृतिक पराधीनता मे आबद्ध होकर अपनी माँग की पूर्ति मे समर्थ होता ? कदापि नही। मिली हुई स्वाधीनता के लिए उसे अपने रचयिता की अहैतुकी कृपा का अनुभव करना चाहिए कि उन पर आक्षेप ? न जाने उन्हे मानव इतना प्रिय क्यो है ? उनकी महिमा वे ही जाने पर स्वाधीनता का सदुपयोग न करना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। इस कारण मानव के लिए अपने दर्शन का आदर, अनुसरण एव उसमे आस्था करना अनिवार्य है।

मानव-दर्शन मानव-मात्र के लिए सर्वदा हितकर है। उसका अनादर करना भारी भूल है। मानव-जीवन मे विस्मृति ही एक मात्र अनर्थ का मूल है जिसका अन्त करना वर्तमान में ही आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा जब मानव सब ओर से विमुख होकर अपनी ओर देखे। अपनी ओर देखने का अर्थ है कि प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म के अन्त मे जब तक दूसरा कार्य आरम्भ न हो वह श्रम रहित अर्थात् अप्रयत्न हो जाय। अप्रयत्न होते ही स्वत भूत की भूल का परिचय होगा। पर उसे देख भयभीत नही होना है अपितु की हुई भूल को न दोहराने का अविचल निर्णय करना है और की हुई भूल की याद अपने आप आने पर उससे असहयोग कर वर्तमान निर्दोषता में आस्था कर अचिन्त्य हो जाना है। भूतकाल की की हुई भलाई की स्मृति भी उत्पन्न होगी पर उसके अभिमान तथा की हुई भलाई की फलासक्ति से असग रहना है। जब मानव बुराई दुहराता नही और भलाई का फल नही चाहता तब गुण दोष रहित वास्तविक नित्य-जीवन से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपनी ओर देखना अनिवार्य है। मानव-जीवन में पर-सेवा तथा प्रिय-चिन्तन का स्थान है किन्तु पर-चर्चा का कोई स्थान नही है, कारण, कि जिसकी सेवा करना है उसकी चर्चा अर्थात् वह क्या करता है इसका चिन्तन मानव को अपने कर्त्तव्य और प्रिय चिन्तन से

वंचित कर देता है जो विनाश का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्त्तव्य की विस्मृति और अकर्त्तव्य की उत्पत्ति दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखने से ही होती है। अब यदि कोई यह कहे कि दूसरों का सुधार कैसे होगा ? तो उस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसका सुधार अभीष्ट है उसकी सेवा करना है उस पर शासन नहीं करना है। शासन करने से शासित प्राणी का सुधार नहीं होता अपितु बुराई दब जाती है मिटती नहीं है। बुराई को बुराई जान लेने पर तथा बुराई-जनित सुख-लोलुपता के न रहने पर ही बुराई नाश होती है। अपनी की हुई बुराई को जानने का अपने पर ही दायित्व है और बुराई-जनित परिणाम पर भी अपने ही को विचार करना है और बुराई रहित जीवन की महिमा में आस्था भी अपने ही को करना है। जो कार्य अपने द्वारा होगा, उसे कोई दूसरा नहीं कर सकता। जिसे नहीं कर सकते, उसे करने का प्रयास प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग तथा अपने कर्त्तव्य से विमुख होना है और कुछ नहीं। इस कारण पर की सेवा करना है, उसका शासक नहीं होना है।

अब यदि कोई यह कहे कि शासन करने की अभिरुचि तो मानव में स्वभाव से है तो कहना होगा कि उस रुचि की पूर्ति अपने पर अपना शासन करने से हो सकती है। शासन का वास्तविक अर्थ है भूल-जनित वेदना से व्यथित होने पर उसे न दुहराने का दृढ संकल्प करना और भूल-जनित सुख-लोलुपता से रहित होना। उसी शासन से निर्दोषता सुरक्षित रहती है। किन्तु इस प्रकार का शासन अपने ही द्वारा अपने पर हो सकता है, किसी अन्य पर नहीं। दूसरों की भूल का वास्तविक परिचय सम्भव नहीं है और कितनी व्यथा होने पर सुख-लोलुपता मिट सकेगी इसका यथेष्ठ ज्ञान उसी को हो सकता है जिसने भूल-जनित सुख का भोग किया है। अपराध से अधिक दण्ड मिलने पर क्षोभ उत्पन्न होता है जो दण्ड मिलने पर कर्त्तव्य

की विस्मृति मे हेतु है और कम दण्ड मिलने पर प्रलोभन उत्पन्न होता है जो अकर्त्तव्य के पोपण मे समर्थ है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि किसी अन्य पर किसी अन्य का शासन सही अर्थ में सम्भव नही है। शासन का अर्थ है न्याय। न्याय अपने प्रति अपने द्वारा ही हो सकता है। दूसरो के प्रति तो क्षमा तथा प्रेम का व्यवहार ही किया जा सकता है। न्याय निर्दोषता से और क्षमा तथा प्रेम निर्वैरता से अभिन्न करता है। निर्दोपता तथा निर्वैरता आ जाने पर व्यक्ति और समाज मे, दो देशो मे, दो वर्गो में, दो दलो और मजहवो आदि में एकता होती है जो विकास का मूल है। अतः अपने अपने प्रति न्याय करने की प्रणाली से ही मानव स्वाधीन हो सकता है अर्थात् शासक और शासित का भेद जीवित नही रहता अर्थात् ऐसे सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है जिसे किसी प्रणाली के राष्ट्र की आवश्यकता नही रहती। राष्ट्र की आवश्यकता तभी होती है जव मानव-समाज मानवता से रहित होता है। मानव प्राकृतिक नियमानुसार सभी के लिए उपयोगी हो सकता है। जो सभी के लिए उपयोगी है, उसे भी कोई अपने से भिन्न अपने पर शासक चाहिये, इससे वढ कर मानव-जीवन का और कोई अपमान नही है। सोई हुई मानवता जगाने तथा मानव-समाज को अपमान से रहित करने के लिए ही मानव-दर्शन अपेक्षित है। अत. प्रत्येक मानव को अपने जाने हुए का आदर, सुने हुए में आस्था और मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

जिसकी प्रतीति है उसका अर्थ 'मे' नही है। अतः शरीर इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि तथा उनके द्वारा जो कुछ देखने, सुनने, समझने में आता है, वह दृश्य है। उसका अर्थ 'मैं' नही हो सकता और जो इन्द्रिय-गोचर नही है अर्थात् जो समझा-वूझा तथा देखा हुआ नही है अपितु केवल सुना है उसका अर्थ भी 'मैं' नही हो सकता। श्रवणेन्द्रिय द्वारा जो कुछ सुना जाता है वह उसका

विषय है किन्तु भक्ता के द्वारा जिस प्रभु की चर्चा सुनी है वह श्रवणेन्द्रिय का विषय नही है। श्रवणेन्द्रिय द्वारा जो उसकी महिमा सुनी है। जिसकी महिमा सुनी है उसको जानना नही है केवल उस से आस्था-पूर्वक आत्मीयता करनी है।

किसी में आस्था-पूर्वक आत्मीयता करने के लिये शरीर, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नही होती, अपितु अपने ही द्वारा आस्था तथा आत्मीयता की जाती है। इन्द्रिय-गोचर जो कुछ है, उसके प्रति जिज्ञासा होती है, प्रवृत्ति होती है, ममता और कामना हो सकती है पर उसमे आस्था तथा आत्मीयता नही हो सकती, कारण, कि आस्था तथा आत्मीयता उसी में हो सकती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का है जो उत्पत्ति-विनाश, देश-काल आदि की दूरी से रहित है अर्थात् जो अविनाशी है। अविनाशी को किसी ने इन्द्रिय-गोचर नही किया। अत सुना हुआ वही है जो इन्द्रिय-जन्य नही है। उसकी महिमा इन्द्रिय-गोचर है। महिमा का श्रवण आस्था कराने में सहयोगी है पर आस्था स्वय को ही करना है। इस दृष्टि से प्रभु की आस्था, जगत् की जिज्ञासा और पराधीनता, जडता आदि की व्यथा जिसमे है, वही 'मैं' है। जिज्ञासा की जाग्रति ममता तथा कामना से रहित कर मानव को पराधीनता रहित कर देती है। पराधीनता के अत्यन्त अभाव मे ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। पराधीनता-जनित वेदना से पीडित देख 'कोई' स्वय विचार के रूप मे अभिव्यक्त हो पराधीनता का अन्त कर स्वाधीनता से अभिन्न कर देता है, यह उसकी महिमा है जिसे जानते नही है।

जिसमें देखे, सुने, समझे की ममता और बिना जाने की आस्था है वही 'मैं' है। किसी प्रतीति तथा स्वीकृति का अर्थ 'मैं' नही हो सकता। देखे हुए की ममता तथा कामना का त्याग करने पर देखे हुए से असगता स्वत. होती है और जिसकी आस्था स्वीकार की है

उसके प्रति आत्मीयतापूर्वक प्रियता स्वत. जाग्रत होती है। असगता तथा आत्मीयता जिसका स्वधर्म है, वही 'मै' है। असगता स्वाधीनता से और आत्मीयता प्रियता से अभिन्न करती है। अत स्वाधीनता और प्रियता जिसकी माँग है वही 'मै' है। माँग मे सत्ता उसी की होती है जिसकी माँग है, इस दृष्टि से जो सभी का प्रेमास्पद है जिसमे पराधीनता, जडता, अभाव की गध भी नही है 'मै' उसी की अगाधप्रियता है।

प्रियता स्वभाव से ही प्रीतम के लिए रस रूप होती है, इस दृष्टि से प्रियता की माँग सदैव रहती है। पर प्रियता मे कोई माँग नही रहती। उस प्रियता से अभिन्न होने मे ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

देहाभिमान रहते हुए जो चाहते हुए भी चला जाता है वह सुख और न चाहने पर भी आ जाता है वह दु ख है। बेचारे देहाभिमानी को वह अच्छा लगता है जो उसके न चाहने पर भी उससे अलग हो जाता है और उससे भयभीत होता है जो उसके न चाहने पर भी आ जाता है। सुख का जाना और दु ख का आना यह वैधानिक सत्य है। इस सत्य का आदर किये बिना सुख की दासता तथा दु ख का भय नाश नही होता। यह सभी को विदित है कि जब यह नियम ही है कि जो आता है वह चला जाता है तो इस दृष्टि से सुख और दु.ख दोनो ही सदैव नही रह सकते। जो नही रह सकता उसका सदुपयोग कर सकते है उसमें जीवन-बुद्धि नही कर सकते, कारण, कि उससे नित्य सम्बन्ध नही हो सकता। आये हुए सुख-दु.ख के सदुपयोग में मानव सर्वदा स्वाधीन है। सुख का सदुपयोग उदारता और दु.ख का सदुपयोग विरक्ति है। उदारता जगत् के लिए और विरक्ति अपने लिए उपयोगी है। उदारता तथा विरक्ति की पूर्णता स्वतः उसकी अनुरक्ति मे परिणत हो जाती है जिससे जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता है। इस दृष्टि से सुख-दुःख जो वैधानिक

तथ्य है, साधन सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नही है। साधन सामग्री चाहे जैसी हो साधक को साध्य से अभिन्न करने मे समर्थ होती है। इस कारण सुख और दु ख मे भेद मानना, उनकी दासता तथा भय में आवद्ध होना भारी भूल है। यह सभी विचारशीलो का मत है कि भूल का अन्त करना होगा। भूल के ज्ञान मे ही भूल के नाश की सामर्थ्य निहित है अर्थात् भूल को भूल जान लेने पर वह स्वत मिट जाती है। नाश उसी का होता है जिसकी प्रतीति हो पर अस्तित्व न हो। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित न होना ही भूल को उत्पन्न करना है। यद्यपि उत्पत्ति का विनाश बिना ही प्रयास के स्वत होता है, परन्तु उसकी पुनरावृत्ति नही करना है। इस दृष्टि से भूल का अन्त करना है, उसे पुन. दुहराना नही है।

सर्व प्रथम भूल प्रतीति तथा स्वीकृति में अहम्-बुद्धि है पर यह ज्ञात नही है कि इस भूल का आरम्भ कव से हुआ। किन्तु यह भूल वर्तमान मे मिट सकती है। प्रतीति के तादात्म्य से काम का जन्म होता है जिसके होते ही मानव पराधीनता, जडता, परिच्छिन्नता, अभाव आदि मे आवद्ध होता है जो विनाश का मूल है। परन्तु कुछ स्वीकृतियाँ इस प्रकार की है जो व्यक्तियो, वर्गो, देशों, मजहबो एव दलो में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करती है। वे स्वीकृतियाँ कर्त्तव्य की प्रतीक है और कुछ नही। कर्त्तव्य का सम्बन्ध पर के प्रति है अर्थात् दूसरो के अधिकार की रक्षा करना है और ने अपने अधिकार-लोलुपता से रहित करना है। दूसरो के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करने पर कर्त्ता कर्त्तव्य के अन्त में स्वत. उसी की प्रियता हो जाता है जिसमें उसने आस्था की है। इस दृष्टि से किसी भी स्वीकृति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। स्वीकृति को ही 'मैं' मानना अथवा उसके अस्तित्व को स्वीकार करना मूल भूल है।

मानव-जीवन की मौलिक समस्या यही है कि जीवन में असफ-

लता का दशन क्यों होता है, जबकि मानव का प्राकट्य ही सफलता के लिए हुआ है। असफलता की वेदना तो मानवेतर योनियो मे न जाने कब से प्राणी भोग रहा है। जिस जीवन का निर्माण सभी के लिए उपयोगी होने में है क्या उस जीवन में भी असफलता रह सकती है ? कदापि नही। अब यदि कोई यह कहे कि असफलता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है; कारण, कि जो चाहते है सो होता नही, जो होता है सो भाता नही और जो भाता है सो रहता नही। यह वर्तमान दशा है कि वास्तविक जीवन ? वर्तमान वस्तुस्थिति के आधार पर मानव-जीवन का अन्तिम-निर्णय करना अधूरा ज्ञान है और कुछ नही। अल्प ज्ञान के आधार पर विकल्प रहित निर्णय देना भूल है जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। यह अनुभूति कि सभी कामनाये पूरी नही होती क्या कामना के त्याग का पाठ नही पढाती ? अर्थात् पढ़ाती है। निष्कामता आने पर क्या जो होता है वह और जो नही रहता है वह कुछ अर्थ रखता है ? कुछ नही। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिस निष्कामता के लिए मानव-जीवन मिला है, हम उसी को भूल जाते है और मानवेतर योनियों में जो कामनापूर्ति अपूर्ति का सुख दु ख भोगते हैं उसी सुख दुःख का भोग मानव-जीवन में भी करना चाहते हैं पर यह भूल जाते है कि मानव को तो वह करना है जिसे कोई और नही कर सकता। अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाने पर ही मानव अपने में असफलता पाता है। जिस पराधीनता, असमर्थता और अभाव को लेकर मानव आया है क्या उसी को लेकर जाना है ? कदापि नहीं। मानव स्वाधीनता, पूर्णता, चिन्मयता से अभिन्न हो सकता पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने को साधक स्वीकार करे अर्थात् उसका अपना कोई अपने लक्ष्य तक पहुँचने का निर्णीत पथ हो। यह सभी को विदित है कि मानव में जानने

मानने तथा करने की सामर्थ्य जन्म-जात है। ऐसा कोई नही है जो कुछ न जाने, न माने और कुछ न करे। करने की, जानने की और मानने की रुचि तथा सामर्थ्य है सभी में। करने की रुचि की पूर्णता कर्त्तव्य पथ में और जानने की रुचि की पूर्णता विचार पथ में एवं मानने की रुचि की पूर्णता आस्था के पथ में निहित है। प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व-हितकारी सद्भावना से राग-निवृत्ति के लिये करना ही कर्त्तव्य-पथ है और विवेक पूर्वक सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एव परिस्थितियो से असंग होना ही विचार-पथ है एव विना जाने प्रभु की आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति विश्वास-पथ है। कर्त्तव्य-परायणता तथा असगता एव शरणागति पथ हैं। मानव अपनी योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के अनुसार किसी भी पथ का पथिक क्यो न हो लक्ष्य की प्राप्ति अनिवार्य है, परन्तु यह सजगता सभी साधकों के लिए अनिवार्य है कि पथ को ही लक्ष्य न मान वैठे। साधन साध्य नही है, पथ इष्ट-धाम नही है, किन्तु साधक की अभिन्नता साधन से ही होती है अर्थात् प्रत्येक साधक साधन हो कर साध्य से अभिन्न होता है, अर्थात् साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व कुछ नही रहता। जब तक साधन और जीवन में एकता नही होती तब तक साधक अपने अपने साधन के गीत गाता है और दूसरों के साधन की निन्दा करता है यह साधक का प्रमाद है और कुछ नही। अपने पथ का अनुसरण करने पर दूसरों के पथ में स्वतः आदर का भाव उत्पन्न होता है जो पारस्परिक संघर्ष का अन्त कर विश्व-शान्ति में समर्थ है। पर यह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक मानव मानव-दर्शन का आदर-पूर्वक अनुसरण करे। उसके लिये यह अनिवार्य है कि प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्ति-पूर्वक सब ओर से विमुख होकर अपनी ओर देखे। ऐसा करने से प्रत्येक मानव बड़ी ही सुगमता पूर्वक अपने पथ का निर्णय कर लक्ष्य की ओर चलने में अग्रसर होगा। अपने पथ का अनुसरण ही पथ की महिमा है। पथ

का वर्णन उसकी महिमा नहीं है अपितु पथ का अपमान है; कारण, कि सफलता से पूर्व पथ की महिमा का वर्णन क्या कुछ अर्थ रखता है ? कुछ नहीं। इतना ही नहीं मजहबों, इज़्मों एवं दलों में संघर्ष का कारण यही है कि मानव जिसकी महिमा गाता है, अपने को उसी से अलग पाता है। मानव-दर्शन प्राणी-मात्र की हित-कामना रखते हुए मानव-मात्र से नम्र निवेदन करता है कि मानव अपने दर्शन का अनुसरण कर अपनी आँखों देखे और अपने पैरों चले, सफलता अनिवार्य है।

—·०—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१६	सामथ्य	सामर्थ्य
३	२१	होता	होती
४	४	सवर्तोमुख	सर्वतोमुखी
६	१०	करने	करने से
११	२५	का	की
१५	१६	नहा	नही
२२	२६	जावन	जीवन
२६	२३	तादात्मय	तादात्म्य
२६	६	नहा	नही
३३	६	तादात्मय	तादात्म्य
३४	३	नहॉ	नही
३६	५	स	से
४०	१८	का।	का
४२	५	ग्राकर्पक	ग्राकर्षण
५६	६	ग्रसक्ति	ग्रासक्ति
५६	२	साध्य है	साध्य है
६०	२३	निष्कामत	निष्कामता से
६२	२	प्रम	प्रेम
६५	३	समथ	समर्थ
६५	२०	नहॉ	नही
६७	२१	नहां	नही

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६८	१०	हा	ही
७१	४	अपन	अपना
७४	१३	नहा	नही
७७	६	प्रम	प्रेम
८०	१	अनिवाय	अनिवार्य
११३	२७	प्रम	प्रेम
११४	२	प्रम	प्रेम
११४	३	म	में
११४	२०	अपने अपने	अपने
११६	२७	सभ	सभी
११८	१६	सभी लिये	सभी के लिए
१२०	१	म	में
१२१	१२	नहां	नही
१३१	२१	हा	ही
१३५	२६	समर्नथ	समर्थन
१३६	२१	दुबल	दुर्बल
१४०	१६	अश	अश
१४०	२१	प्रम	प्रेम
१७०	५	क्षोम	क्षोभ
१७१	३	वज्ञानिक	वैज्ञानिक
१७४	२३	सामथ्य	सामर्थ्य
१७५	२	प्रम	प्रेम

—: ० :—

मानव सेवा संघ के अन्य प्रकाशन

अप्रेल १९६४

हिन्दी	पृष्ठ संख्या	मूल्य
१. सन्त समागम भाग १	२५७	रु० १.५० न० पै०
२. सन्त समागम भाग २	३५७	,, २ ०० ,,
३. मानव की माँग	२४४	,, २ ०० ,,
४. जीवन दर्शन	३२५	,, २ ०० ,,
५. साधन तत्त्व (सजिल्द)	१०४	,, १ २५ ,,
६. चित्त शुद्धि	४४४	,, २ ५० ,,
७. सत्सग और साधन	९९	,, १ ०० ,,
८. जीवन पथ	१४०	,, १ २५ ,,
९ मानवता के मूल सिद्धान्त	१२२	,, ० ५० ,,
१०. दर्शन और नीति	१४४	,, १.५० ,,
११ दुःख का प्रभाव	११६	,, १.२५ ,,
१२ मानव सेवा सघ (परिचय)	३२	,, ० १२ ,,
१३. मूक-सत्सग और नित्य-योग	२०९	,, १ ७५ ,,

गुजराती	पृष्ठ संख्या	मूल्य
१. मानव नी माँग	३२०	रु० २ ०० न० पै०
२. मानव सेवा सघ परिचय अणे व्याख्या	१०८	,, ०.३८ ,,

English	*Pages*	*Price*
1. A Saint's call to Mankind	174	
Cloth Bound		Rs. 3.00 nP.
Card Board Bound		,, 2.25 ,,

This book is approved by the Govts. of Rajasthan, Bihar and Uttar Pradesh for Libraries.

सूचना

राजस्थान राज्य द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत—

१. सन्त समागम (भाग १) २. सन्त समागम (भाग २)
३. मानव की माँग ४. जीवन-दर्शन
५. साधन-तत्त्व ६. चित्त शुद्धि

बिहार राज्य द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत—

१. सन्त समागम (भाग १) २ सन्त समागम (भाग २)
३. मानव की मॉग ४ साधन तत्त्व
५. चित्त शुद्धि ६ सत्सग और साधन
७. दर्शन और नीति ८. दु ख का प्रभाव
९. जीवन पथ १० जीवन दर्शन
११. मानवता के मूल सिद्धात

कमीशन के नियम

१. सघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के पूरे सेट पर १२॥ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

२. १०) रुपये मूल्य की पुस्तको पर ५ प्रतिशत,
५०) रुपये मूल्य की पुस्तकों पर २० प्रतिशत,
१००) रुपये मूल्य की पुस्तको पर २५ प्रतिशत,
५००) रुपये मूल्य की पुस्तकों पर ३० प्रतिशत,
१०००) रुपये मूल्य की पुस्तकों पर ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

नोट—१०० रुपये तथा इससे अधिक मूल्य की पुस्तको पर पैकिंग तथा रेलभाडा भी फ्री रहेगा।

मिलने का पता :

मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.